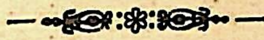
मननीय प्रश्नोत्तर



भक्तप्रवर श्रीजयदयालुजी गोयनका

तथा

श्रीगौरीशङ्करजी गोयनका

की

बातचीत ।

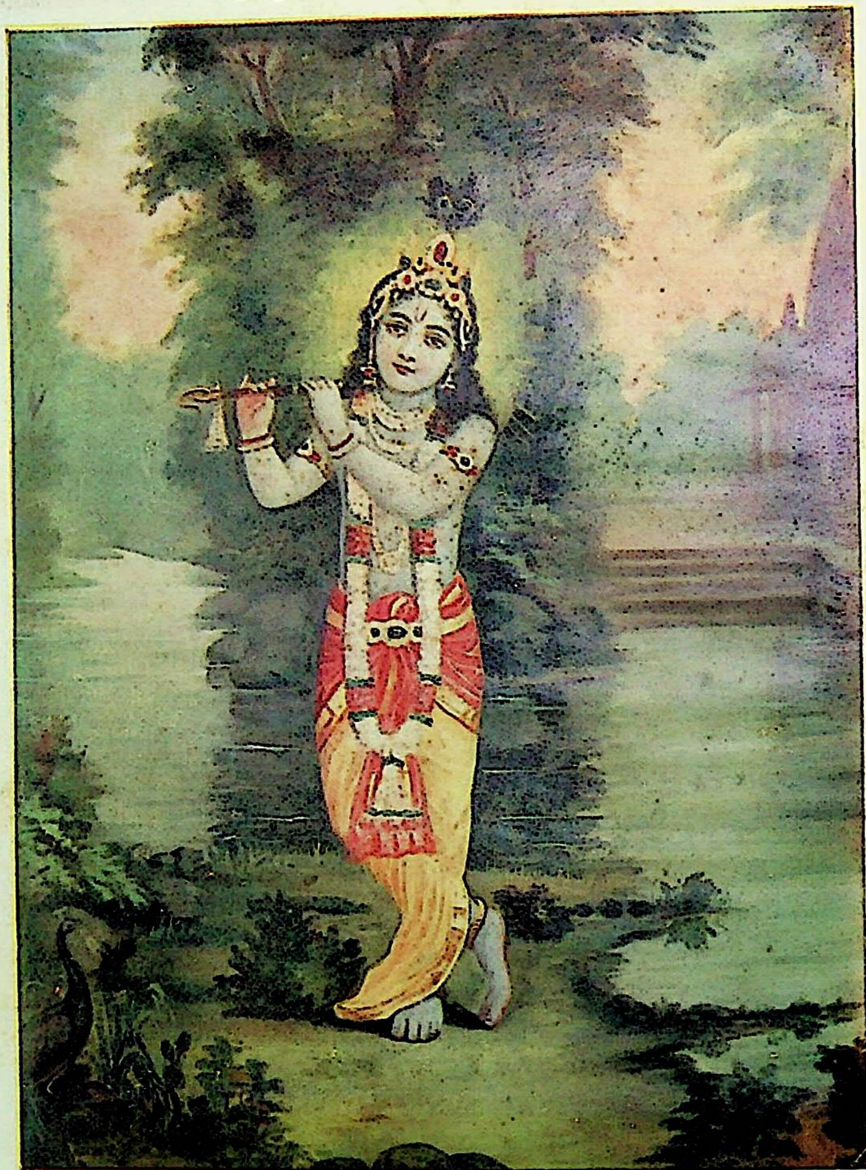


लेखक—

श्रीरामशङ्कर महता

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण



Gita Press, Gorakhpur

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

श्रीगणेशायनमः ।

प्राक्कथन—

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं र्गीर्वाणशान्तिप्रदं
वेधःशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम् ।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं
वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूडामणिम् ॥

पूज्यवर श्रीपरमहंसजी तथा महामना श्रीमालवीयजी की बात चीत सुनकर मेरे मनमें जो विचार उत्पन्न हुए उन्हें पाठकों के सन्मुख उपस्थित करता हूँ ।

अनेक विरोधाभासों का अभिनयमात्र यह संसार चक्र जिसकी सत्ता से घूमता हुआ प्रतीत होता है, जिसको महर्षि-गण नितान्त परिश्रान्त (थकित) मन और वाणी से "नेति नेति" उपशान्तोऽयमात्मा कह कर दीर्घकालीन मौन धारण कर अनुपम सुख का अनुभव करते हैं। वे कहें भी कैसे ? वाणी की वहां तक पहुँच ही कहां है ? बल्कि वाणी में जो बोलने की शक्ति है, वह उसी विभु का ही तो प्रसाद है। मन भी उसका मनन कैसे करे, मन स्वयं मर्यादित है। वह परिच्छिन्न वस्तु का मनन कर सकता है। जिसकी कृपा से मन में मनन करने की शक्ति प्रस्फुरित होती है, देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि से रहित, नित्य, अविकारी, सच्चिद् आनन्दघन उस

परम पुरुष का निरूपण किस प्रकार किया जाय ? किस प्रकार उसका मनन किया जाय ? अनेक कर्ता, भोक्ता से युत, अनन्त भेद भावों से आवृत, गिरि, सरित, सागर, कानन, मरु, समतल आदि से विभूषित इस वर्तमान सृष्टि को देख कर इसका बनाने वाला कोई है। जब ऐसा अनुमान किया जाता है, तो सहसा यह बात मन में आती है कि इस प्रकार की विषम सृष्टि जिसमें अनेक प्राणी नाना प्रकार के दुःख सुख को प्राप्त कर रहे हैं, उसके रचयिता रागद्वेषशून्य परमात्मा कैसे हो सकते हैं? विचार करते करते किसी शिल्पी, कुलाल आदि की कृति पर जब दृष्टिपात होता है, तो पता लगता है कि एक ही मृत्तिका के ढेर से कुलाल मृत्तिका के अनेक उच्चावच खिलौने बनाता है। थोड़ी मिट्टी से घोड़ा, थोड़ी से सवार, सहीस और घास आदि। वह एक ही मृत्तिका से स्वयं रागद्वेषशून्य होकर भी अपने मन के अनुसार सुखी, दुःखी आदि विरोधी भोग्य और भोक्तृवर्ग रूप सृष्टि की कल्पना करता है। इसी प्रकार परमात्मा भी स्वयं रागद्वेषशून्य होकर रागद्वेषवाली सृष्टि की रचना करे, तो दोष ही क्या है? अब यहां पर यह विचार करना चाहिये कि कुलाल के स्थान में हम उस जगदीश्वर को रक्खें, तो प्रश्न उठता है कि मृत्तिका के स्थान में कौन है? जो उपादान कारण हो। इस प्रकार विचार करते करते, प्रकृति आदि की कल्पना करते और खण्डन करते इसी निश्चय पर जाना पड़ता है कि—

" यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति ।" (बृ० २ । १ । २०)

[जैसे मकड़ी अपने से अतिरिक्त उपादान कारण के विना ही अपनेमें से पैदा किये हुए तन्तुओं से विचरती है और जैसे एक ही अग्नि से अनेक छोटी छोटी चिनगारियां निकलती हैं, उसी प्रकार इस आत्मा (ब्रह्म) से वाग् आदि सब इन्द्रियां, भू आदि सब लोक, सब देवता तथा आकाश आदि सब भूत निकलते हैं ।]

" यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः ।
तथा विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः ॥"
(भा० ११ । ९ । २१)

[जैसे मकड़ी अपने हृदय से निकले हुए जाले को मुँह से फैलाकर और उससे क्रीड़ा करके फिर उसे निगल जाती है, ऐसे ही परमेश्वर भी इस जगत् की सृष्टि करके उससे क्रीड़ा कर पुनः उसको अपने में ही लीन कर लेते हैं]

उपर्युक्त वाक्यों से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि इस सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण वही सदभिन्न चित् और चिदभिन्न सत् तथा सच्चिदभिन्न आनन्दतत्त्व आनन्दाम्बुनिधि आनन्द-राशि ही हैं । अहा ! यह सब कुछ वही बन गया है—

" आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः ।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः ॥" (भा० ११।२८।६)

[प्रभु ही इस विश्व के रूप से सृष्ट होता है और स्रष्टारूप से सृष्टि करता है, स्वयं पालित होता है और पालन करता है, स्वयं लीन होता है और लय करता है अर्थात् आत्मा से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, जो कुछ भी है, वह आत्मरूप ही है]

'सदसच्चाहमर्जुन !' जिधर देखो, तू ही तू है। इस प्रकार के विचार करते, आनन्द में गोते लगाते सहसा भीतर से श्रुति के अनुकूल एक अनुभव स्फुरित होता है—

"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"।

यह सब कुछ यद्यपि उसी परमात्मा के पादस्थानीय अंश की तरह होता हुआ भी उस अंशी तत्त्व से हमेशा भिन्न हैं। वह तत्त्व अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश—पंच-क्लेश, विहित, प्रतिषिद्ध, मिश्रित-त्रिविध कर्म; जाति, आयु, भोग—विपाक; आशय (वासनारूप संस्कार) से असंस्पृष्ट, नित्य निरतिशय ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और मोक्ष वाला है, देश, काल और वस्तु जन्य परिच्छेद से शून्य होता हुआ इन सब का कारण है। जिस प्रकार समुद्र का एक कण उसका अति सूक्ष्म अंश है, उसी प्रकार ये कोटि २ ब्रह्माण्ड त्रिपाद-विभूति समुद्रस्थानीय उस सर्वाधार विभु के बिन्दुरूप हैं। उस आनन्दघन के एक एक लव (कण) मात्र से कोटि २ ब्रह्माण्ड ब्रह्मा से लेकर कीटपर्यन्त विषयानन्द का भोग करते हैं। अब देखना यह है कि उस विभु का जो पता लगावे, वह कौन

है ? कहां रहता है ? जिन महानुभावों ने गहरे गोते लगाये हैं। उन्हें वह त्रिपाद विभूति ब्रज के कर्दम में ग्वालनी के घर पर नाना प्रकार की लीलाएँ करते दीख पड़ा है।

"सखि ! शृणु कौतुकमेकं नन्दनिकेतनाङ्गणे मया दृष्टम् ।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः ॥"

[हे सखि ! सुनो, मैंने एक बड़ा कौतुक देखा; वह यह कि नन्दजी के गृहाङ्गण में गायों की धूलि से धूसरितकाय वेदान्त का सिद्धान्त (उपनिषत्प्रतिपाद्य पर ब्रह्म) नाच करता है।]

अपने इस अनुपम रूप माधुर्य्य की छटा दिखाना, लीला करना और इनके द्वारा उपर्युक्त जिज्ञासु प्रेमियों की इच्छा-पूर्ति के लिए ही उसका अवतार होता है अथवा और कोई प्रयोजन है ? यदि—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ! ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥"

[हे अर्जुन ! जब जब धर्म का ह्रास और अधर्म की अभिवृद्धि होती है, तब मैं अवतार लेता हूं। साधुओं की रक्षा के लिए, दुष्टों के विनाश के लिए एवं धर्म की स्थापना के लिए मैं युग-युग में पैदा होता हूँ।]

इत्यादि भगवत्वाक्यों पर विचार किया जाता है, तो ऐसा मालूम होता है कि भगवान् ने अपने अवतार के मुख्य प्रयोजन को अर्जुन से कहना यहां उचित नहीं समझा। गौण प्रयोजन ही उन्हें बतलाया है। जिसके संकल्प से, जिसकी भृकुटि विलास से यावन्मात्र जगत् की उत्पत्ति और लय होता है, क्या उसके संकल्प से साधुओं का परित्राण और दुष्टों का विनाश नहीं हो सकता था? अवश्य हो सकता था। तब अवतार का मुख्य प्रयोजन तो वह होना चाहिए जो कार्य्य संकल्प के बल से न हो सकता हो, वह कार्य्य अवतार के द्वारा हो। उस कार्य्य का विचार करते २ पता लगता है कि नित्य तृप्त अपनी आत्मा ही में रमण करने वाले मुनि लोग जिनकी जड़ चेतन ग्रन्थि का पूर्ण रीति से भेदन हो गया है, ब्रह्मादि सम्पूर्ण दैव ऐश्वर्य्य जिनके लिए काक विष्ठावत् हो गये हैं, इस सृष्टि के उच्चावच भेद और उत्पत्ति, प्रलय तक से भी जिनके मन में विक्षोभ नहीं होता, ऐसे निष्किंचन, शान्त, दान्त, समचेता आत्माराम मुनि लोगों की तृप्ति, उस निखिल रसामृतसिन्धु की लावण्यमयी मधुर मूर्ति के दर्शन के बिना कैसे हो सकती है? यही अवतार धारण का मुख्य प्रयोजन है जैसा कि मर्य्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी विभीषण के प्रति कहते हैं:—

"तुम सारिखे संत प्रिय मोरे। धरौं देह नहि आन निहोरे॥"

उस अप्राकृत अनुपम मधुर मूर्त्ति को देखकर जिन महानु-

भाव, आत्माराम, ब्रह्मभूत महापुरुषों की प्रेमामृत में डूब कर विलक्षण दशा हुई अथवा परम तृप्ति हुई, उनके कुछ दृष्टान्त रूप उद्गारों को ज़रा देखें:—

भगवान् शंकर की प्रेम में विभोर अवस्था देखकर जगत्-माता श्रीसतीजी कहती हैं:—

सती सो दशा शंभु कै देखी ❀ उर उपजा सन्देह बिशेखी ॥
शंकर जगत वंद्य जगदीसा ❀ सुर नर मुनि सब नावहिं सीसा ॥
तिन्ह नृप सुतहिं कीन्ह परनामा ❀ कहि सच्चिदानन्द परधामा ॥
भए मगन छवि तासु विलोकी ❀ अजहुँ प्रीति उर रहत न रोकी ॥

श्री वसिष्ठ भगवान् की उक्ति :—

एक बार वसिष्ठ मुनि आए ❀ जहां राम सुख धाम सुहाए ॥
अति आदर रघुनायक कीन्हा ❀ पद पखारि पादोदक कीन्हा ॥
राम सुनहु मुनि कह करजोरी ❀ कृपा सिन्धु विनती कछु मोरी ॥
देखि देखि आचरन तुम्हारा ❀ होत मोह मम हृदय अपारा ॥
महिमा अमित वेद नहिं जाना ❀ मैं केहि भांति कहौं भगवाना ॥
उपरोहिती करम अति मंदा ❀ वेद पुरान सुमति कर निंदा ॥
जब न लेउँ मैं तब विधि मोहीं ❀ कहा लाभ आगे सुत तोहीं ॥
परमात्मा ब्रह्म नर रूपा ❀ होइहि रघुकुल भूषन भूपा ॥

दोहा—तब मैं हृदय विचारेउँ, जोग जज्ञ व्रत दान।
जौ कहुँ करिय सो पैहौं, धरम न यहि सम आन ॥

जप तप नियम जाग निज धरमा ❀ श्रुति संभव नाना शुभ करमा ॥
ज्ञान दया दम तीरथ मजन ❀ जहं लगि धरम कहत श्रुति सजन ॥

आगम निगम पुरान अनेका ❀ पढ़े सुने कर फल प्रभु एका ॥
तव पद पंकज प्रीति निरंतर ❀ सब साधन कर यह फल सुन्दर ॥
छूटै मल कि मलहि के धोए ❀ घृत कि पाव कोउ वारि बिलोए ॥
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई ❀ अभि अन्तर मल कबहुँ न जाई ॥
सोइ सर्वज्ञ तज्ञ सोई पंडित ❀ सोइ गुन गृह विज्ञान अखंडित ॥
दक्ष सकललक्षणजुत सोई ❀ जाके पद सरोज रति सोई ॥

दोहा—नाथ एक वर मांगौं, मोहिं कृपा करि देहु।
जनम जनम प्रभु पद कमल, कबहुँ घटै नहिं नेहु ॥

श्रीविश्वामित्रजी की दशा इस प्रकार वर्णित है :—

विश्वामित्र महामुनि ज्ञानी ❀ बसहिं विपिन शुभ आश्रम जानी ॥
मुनि चरनन्हि मेले सुत चारी ❀ राम देखि मुनि देह बिसारी ॥
भये मगन देखत मुखशोभा ❀ जनु चकोर पूरन शशि लोभा ॥

श्री जनकजी की दशा भी देखिये :—

मूरत मधुर मनोहर देषी ❀ भए विदेह विदेह विसेषी ॥
प्रेम मगन मन जानि नृप, करि विवेक धरि धीर।
बोले नृप पद नाइ शिर, गद गद गिरा गंभीर ॥
कहहु नाथ सुन्दर दोउ बालक ❀ मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक ॥
ब्रह्म जो निगम नेति कह गावा ❀ उभय भेष धरि की सोई आवा ॥
सहज विराग रूप मन मोरा ❀ थकित होत जिमि चन्द चकोरा ॥
ताते प्रभु पूछहुँ सति भाऊ ❀ कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ ॥
इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा ❀ वरवस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा ॥

महात्मा भारद्वाज जी क्या कहते हैं ? सुनिये :—

तब प्रभु भरद्वाज पहं आये ❀ करत दण्डवत मुनि उर लाये ॥
मुनि मद मोद न कछु कहि जाई ❀ ब्रह्मानन्द राशि जनु पाई ॥

❀ ❀ ❀

भये विगत श्रम राम सुखारे ❀ भरद्वाज मृदु वचन उचारे ॥
आज सुफल तप तीरथ त्यागू ❀ आज सुफल जप जोग विरागू ॥
सुफल सकल शुभ साधन साजू ❀ राम तुम्हहिं अवलोकत आजू ॥
लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी ❀ तुम्हरे दरस आस सब पूजी ॥

❀ ❀ ❀

अत्रि ऋषि की दशा का दिग्दर्शन :—

अत्रि के आश्रम जब प्रभु गयऊ ❀ सुनत महा मुनि हरषित भयऊ ॥
पुलकित गात अत्रि उठि धाये ❀ देखि राम आतुर चलि आये ॥
करत दंडवत मुनि उर लाये ❀ प्रेम वारि दोउ जन अन्हवाये ॥
देखि राम छवि नयन जुड़ाने ❀ सादर निज आश्रम तब आने ॥

❀ ❀ ❀

सुतीक्ष्णजी की अवस्था का कुछ इशारा :—

आगे देख राम तनु श्यामा ❀ सीता अनुज सहित सुख धामा ॥
परे लकुट इव चरनन्हि लागी ❀ प्रेम मगन मुनिवर बड़भागी ॥
भुज विशाल गहि लिये उठाई ❀ परम प्रीति राखे उरलाई ॥
मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला ❀ कनक तरुहि जनु भेट तमाला ॥
राम वरन विलोकि मुनि ठाढ़ा ❀ मानहु चित्र माझि लिखि काढ़ा ॥

श्री वाल्मीकि मुनि की दशा का भी कुछ लक्ष्य कीजिये :—

देखि राम छवि नयन जुड़ाने ❀ करि सनमानु आश्रमहिं आने ॥
वाल्मीकि मन आनंद भारी ❀ मंगल मूरति नयन निहारी ॥

श्री सनकादि आत्मनिष्ठों के शिरोमणियों की उक्ति भी जरा सुनिये :—

विद्युत्क्षिपन्मकरकुण्डलमण्डनार्ह-
गण्डस्थलोन्नसमुखं मणिमत्किरीटम् ।
दोर्दण्डषण्डविवरे हरता परार्ध्यं-
हारेण कन्धरगतेन च कौस्तुभेन ॥
(भा० ३।१५।१४)

अत्रोपसृष्टमिति चोत्स्मितमिन्दिरायाः
स्वानां धिया विरचितं बहुसौष्ठवाढ्यम् ।
मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तमङ्गं
नेमुर्निरीक्ष्य नवितृप्तदृशो मुदा कैः ॥
(भा० ३ । १५ । ४२)

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥
(भा० ३ १५ । ४३)

[जिनका मुख अपनी कान्ति से विजुली का उपहास करने वाले मकराकार कुण्डलों के योग्य गालों तथा उन्नत नासिका से युक्त है, जो मणिजटित मुकुट धारण किये हैं, जिनकी चार भुजाओं के बीच में बहुमूल्य मनोहर हार एवं गले में कौस्तुभ मणि शोभायमान है ।

मैं निरतिशय सौन्दर्य की निधि हूँ, ऐसा जो लक्ष्मी को अहङ्कार था, वह आज चूर हो गया। क्योंकि भगवान् का रूप लक्ष्मी के रूप से भी कहीं अधिक सुन्दर है ऐसा भगवान् के भक्त अपने मन में विचार करने लगे। भगवान् मेरे (ब्रह्मा के), शङ्कर के एवं आप लोगों के भजन के योग्य अत्यन्त सौन्दर्य से युक्त अपनी मूर्ति को सदा प्रकट करते रहते हैं। ऐसे भगवान् को देख कर प्रसन्नतापूर्वक मुनियों ने सिर से प्रणाम किया, किन्तु उनकी सुन्दरता को देखते हुए उनके नेत्र तृप्त नहीं हुए।

उन कमलनयन के चरण-कमल के केसर से मिली हुई तुलसी की मञ्जरी की वायु ने नासिका द्वारा अन्तःकरण में प्रवेश करके ब्रह्मज्ञानियों के भी चित्त और देह को चञ्चल कर दिया।]

उस लीला पुरुषोत्तम भगवान् के क्रीड़ास्थल वृन्दावन में प्रवेश करते ही अद्वैत सिद्धिकार भगवान् मधुसूदनजी के मुख से सहसा निकल पड़ा कि—

"अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥"

[यद्यपि हम अद्वैत पथ के पथिकों के उपास्य देव हैं अर्थात् अद्वैतवादियों के श्रेष्ठ आचार्य हैं और स्वाराज्य सिंहासन में भी हमारा अभिषेक हो गया है अर्थात् तत्त्व-ज्ञान की भी हमें प्राप्ति हो गई है, तो भी गोपियों के प्रेमी किसी शठ (कृष्ण भगवान्) ने हमें अपना दास बना लिया है।]

तब क्या इन अकिञ्चन आत्माराम मुनिवर शम, दम, आदि साधन सम्पन्न महात्माओं के निमित्त ही भगवान् अवतार लेते हैं। नहीं, नहीं, यह तो वस्तु का स्वभाव ही है। अग्नि को कोई बड़े प्रयास से सुलगाता है, किन्तु अग्नि से सभी प्राणियों का शीत निवारण समान भाव से होता है। अग्नि की दाहक शक्ति को जो बालक नहीं जानते, वे भी सन्निहित आकर ताप और प्रकाश का अनुभव करते हैं। प्रादुर्भाव होते ही प्रातः स्मरणीय महात्मा वसुदेवजी मुखार-विन्द का दर्शन करते ही कह उठते हैं:—

"विदितोऽसि भवान्साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः।
केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक् ॥"

(भा० १० । ३ । १३) इत्यादि।

माता देवकी जी भी कहती हैं:—

"विश्वं यदेतत्स्वतनौ निशान्ते यथावकाशं पुरुषः परो भवान्।
बिभर्ति सोऽयं मम गर्भगोऽभूदहो नृलोकस्य विडम्बनं हि तत् ॥"

(भा० १० । ३ । ३१)

[जो परम पुरुष आप प्रलय के अन्त में इस सारे जगत् को अपने शरीर में खूब अवकाश के साथ धारण कर लेते हो, वही आप मेरे शरीर से उत्पन्न हुए हो, यह मनुष्यों की विडम्बना ही तो है।]

"रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः॥"

(भा० १०।३।२४)

[वेद में जिस रूप को सारे विश्व का आदि कारण तथा आदि बतलाया है, एवं जो अव्यक्त, बृहत्, चेतन, निर्गुण निर्विकार, सत्तामात्र विरोध-विहीन और निष्क्रिय कहा गया है, वही आप सब के साक्षी अध्यात्मदीप विष्णु हो।]

यावन्मात्र सृष्टि के सम्पूर्ण विभागों को अविभाग रूप से मुख में दर्शन करती हुई माता यशोदा कह उठती हैः—

"किं स्वप्न एतदुत देवमाया किं वा मदीयो बत बुद्धिमोहः।
अथो अमुष्यैव ममाऽर्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः॥
अथो यथावन्न वितर्कगोचरं चेतोमनःकर्मवचोभिरञ्जसा।
यदाश्रयं येन यतः प्रतीयते सुदुर्विभाव्यं प्रणताऽस्मि तत्पदम्॥"

(भा० १०।८।४०, ४१) इत्यादि।

[यह क्या मैं स्वप्न देख रही हूं या यह श्रीविष्णु भगवान् की माया है अथवा मेरी ही बुद्धि में कुछ व्यामोह (भ्रम) हो गया है या यह मेरे पुत्र का ही स्वाभाविक निज का प्रतापातिशय है? जो अन्तःकरण, मन, कर्म और वचनों से सहज में ठीक ठीक नहीं जाना जाता, जिसके आश्रय में यह जगत् है जिससे यह उत्पन्न होता है, जिससे पालित होता है और जिसमें लीन हो जाता है, उस अत्यन्त दुर्विज्ञेय पद को मैं प्रणाम करती हूँ।]

अक्षर से शून्य वनचरी गोपियां उस छविधाम का दर्शन कर कहती हैं:—

"न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्ऽथितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान्सात्वतां कुले ॥"

(भा० १० । ३१ । ४)

[आप केवल गोपिका-नन्दन नहीं हैं, किन्तु सभी के प्रिय अन्तर्यामी परमात्मा हैं। हे सखे ! विश्व की रक्षा करने के लिए जब ब्रह्मा ने आपकी प्रार्थना की, तब आप यदुकुल में अवतीर्ण हुए हैं।]

"नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया ।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात् ॥"

इसी प्रकार योग, सांख्य, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्टापूर्त इत्यादि सम्पूर्ण साधनों से शून्य भी उस लावण्यमूर्ति का दर्शन कर परम कृतार्थ हुए। इस भाव से प्राप्त होने वाली पूतनादि राक्षसी भी उस लीलामय विग्रह में लीन हो गई।

उसके अनुपम लीलामय विग्रह के सौन्दर्य्य को देख अपनी भगिनी के अपमान से परम उत्तेजित क्रूरप्रकृति खरदूषण कह उठता है:—

"प्रभु विलोकि शर सकहिं न डारी ॥ थकित भई रजनीचर धारी ॥
सचिव बोलि बोले खर दूषन ॥ यह कोउ नृपबालक नर भूषन ॥

नाग असुर सुर नर मुनि जेते ❀ देखे जिते हते हम केते ॥
हम भरि जनम सुनहु सब भाई ❀ देखी नहीं अस सुन्दरताई ॥
जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा ❀ वध लायक नहिं पुरुष अनूपा ॥"
इत्यादि ।

कहां तक कहें रावण, कंस, शिशुपालादि द्वेष भाव से भगवान् को भजने के कारण उस सुर-दुर्लभ गति को प्राप्त हुए।

यदि केवल 'परित्राणाय साधूनां' को ही अवतार का मुख्य हेतु समझें तो "यदा यदा हि धर्म्मस्य" के सिद्धान्त के अनुसार इस समय कौन धर्म्म अवशिष्ट रह गया है? इससे यह सिद्ध होता है कि अवतार का मुख्य हेतु यही है कि—

"अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥"

(भा० १० । ३३ । ३७)

[प्राणियों के ऊपर अनुग्रह करने के लिए मानव देह को धारण किये हुए भगवान् ऐसी ऐसी क्रीड़ाएँ (लीलाएँ) करते हैं, जिन्हें मनुष्य सुन कर प्रीतिपूर्वक भगवान् की भक्ति में परायण हो जाते हैं।]

इस सिद्धान्तके अनुसार चाहे जिस भाव से भजो सब का एक सरीखा कल्याण करना अवतार का उद्देश्य सिद्ध होता है।

सन्मुख होय जीव मोहि जबहीं ❀ जन्म कोटि अघ नासौं तबहीं ॥

सब की ऊँची से ऊँची उन्नति हो, ऊँची से ऊँची गति हो, राक्षस आदि द्वेष से भगवान् के चिन्तन में रत हुए, गोपी, ग्वालवाल आदि स्नेह से, मुनि लोग भक्ति से और माता, पिता आदि वात्सल्य प्रेम से भगवत्कृपा के भाजन हुए। यही हमारा उच्च साम्यवाद है, प्रत्येक प्राणी अपने २ वर्णाश्रम के अनुकूल आचरण करता हुआ अपनी ऊँची से ऊँची परम सुख की अभिलाषा को समानता से प्राप्त करे, यही साम्यवाद का रहस्य है।

अवतार कई प्रकार के होते हैं—पूर्णावतार, अंशावतार, कलावतार, गुणावतार एवं आवेशावतार, इसकी व्याख्या करने से लेख बहुत बढ़ जायगा, किन्तु एक बात अवश्य कहूँगा, कि सब अवतारों का ध्येय वेद-मर्यादा को स्थापित करना और इसकी नीव जो वर्णाश्रम धर्म है, उसकी रक्षा करना ही रहा है। उपायों में भेद भले ही हो, किन्तु उपेय में कोई अन्तर नहीं रहा। जो प्राणी जिस देश में, जिस ग्राम में, जिस कुल में, उत्पन्न हुआ, उसकी उन्नति उसी देश की उपयोगी भाषा और जिस वर्ण में उत्पन्न हुआ, उसके पूर्व आचार्यों ने जो धर्म उस वर्ण के लिये बताया है, वही उसकी शिक्षा है और उसी से ऊँची से ऊँची ऐहिक और पारलौकिक उन्नति को प्राप्त कराना यही उद्देश्य अवतारों का समान भाव से होता है। तभी अवतारों के वाक्यों को वेदवत् माना गया है और सनातन धर्म का इतना ऊँचा सिद्धान्त होने से ही भगवान् मनु प्राणीमात्र को सम्बोधन कर यह ढिंढोरा पीटते हैं कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ (मनु० २ । २०)

[पृथिवी में सब मनुष्य इस देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मण से अपना अपना चरित्र सीखें ।]

इसके विपरीत जिस आन्दोलन से वर्णाश्रम धर्म नष्ट हो जाय, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिख, पारसी इत्यादि का भेद भी न रहे, पारस्परिक अनेक प्रकार के झगड़े बढ़ जायँ। पुत्र अपने माता, पिता आदि गुरुजनों की बात की केवल अवहेलना ही नहीं किन्तु निरादर करें, इस देश का उज्ज्वल और आश्चर्यदायक अनुकरणीय स्वाभाविक पातिव्रत्य धर्म नष्ट हो जाय, सभी मनमानी करने लगें, जाति-बन्धन तक टूट जाय, जिसका यह परिणाम हो, वह आन्दोलन धार्मिक है क्या ? अथवा उसको चलाने वाले आचार्य अथवा अवतार कहे जा सकते हैं क्या ?

जो तप शास्त्र-प्रतिपादित है, जो त्याग, व्रत आदि शास्त्रानुमोदित हैं, उन्हीं के आचरण से कल्याण होता है, अपने मन से कल्पना कर नाना प्रकार के व्रतों का आचरण करने पर भी केवल शरीर को कष्ट देने के सिवाय और कुछ लाभ नहीं, इसकी निन्दा श्रीमुख से भगवान् ने गीता में की है,

"अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।" (गी० १७ । ५)
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥
(गी० १७ । ६)

[शास्त्र में जिसका विधान नहीं है ऐसे पीडाकर तप को जो करते हैं, वे अविवेकी लोग इन्द्रियों को कृश (दुःखी) करते हैं और शरीर के अन्दर जीवात्मा रूप से विद्यमान मुझे भी क्लेश पहुंचाते हैं । उन्हें आसुरी निष्ठावाला जानो ।]

तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

दूसरी बात अछूतों के उद्धार की है, जब पशुओं को छूते हैं, तब मनुष्यों में छूने से क्या पाप ? जैसे हमारे कर, चरण आदि हैं, इसी प्रकार इन अछूतों के हैं, हम जब विद्वान् होते हैं, तब ये क्यों न उस विद्या का लाभ करें ? हम जब हुकूमत करते हैं, तब ये भी क्यों न हुकूमत करें ? शौच उठवाना जैसा निन्दनीय कार्य एक जाति दूसरी जाति से ले यह कितना अन्याय है ? इस कार्य के कारण ही इन बेचारों की अधोगति हुई है, तो यह कार्य हम ही क्यों ना करें ? इनको जब तक अपने समान न बना लें, तब तक हमारा साम्यवाद का सिद्धान्त कैसा इत्यादि विचारों का जो वर्तमान शिक्षा पद्धति से शिक्षित हुए हैं, उनके हृदय में घूमना स्वाभाविक ही है । यदि शास्त्र में और परलोक में विश्वास होता तो उपर्युक्त प्रश्न बहुत शीघ्र हल हो जाते, किंतु पूर्वजों में श्रद्धा तो रही नहीं, केवल अपनी बुद्धि के अनुसार साम्यवाद स्थापन करने का महत्संकल्प करना केवल उपहासास्पद ही है । एक शरीर की दस इन्द्रियों का कार्य पृथक् २ है । किन्तु मनुष्य का प्रेम सभी

इन्द्रियों पर बराबर है। यदि किसी इन्द्रिय में विकृति आ जाय, तो उसे सुधारने की चेष्टा मनुष्य प्राणपण से करता है। किन्तु एक इन्द्रिय के कार्य को दूसरी इन्द्रियों से लेने की चेष्टा कोई भी नहीं करता। मुख का कार्य मुख ही करेगा गुदा का कार्य गुदा ही करेगी। ऊपरी कार्य-भेद होने पर भी उनकी उपयोगिता में कोई भेद नहीं है। शरीर की रक्षा में सब ही का समान उपयोग है। वर्त्तमान साम्यवाद आपात दृष्टि से भारतवर्ष के कुछ प्राणियों के लिए भले ही लाभकारी प्रतीत होता हो, किन्तु वह यहीं के निवासी दूसरे लोगों के लिये हानिकर है। तब भारतवर्ष से बाहर के देशों के निवासियों के विरुद्ध हो, इसमें कहना ही क्या है?

"सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥"

अर्थात्-सभी लोग सुखी हों, सभी नीरोग रहें और सभी मङ्गल देखें, कोई भी दुखी न हो।

जब तक इस सिद्धान्त का भाव साम्यवाद के प्रचारकों के हृदय में न जग जाय, तब तक उनके आन्दोलन को साम्यवाद कहना उचित नहीं प्रतीत होता। मनुष्य का स्वाभाविक गुण है कि अपनी आकृति के सदृश दूसरे जीवों को समान समझना। अपनी आकृति के जो जीव हैं, उनमें निर्बलों को अपना भक्ष्य बनाना और बलवानों का स्वयं भक्ष्य हो जाना—यह पशु व्यवहार है। यदि यह व्यवहार हम लोग

अङ्गीकार करें, तो मनुष्य में विशेषता ही क्या रही ? हमारा साम्यवाद तो ब्रह्मा से लेकर पिपीलिकापर्यन्त सभी जीवों में समान है। सभी हमारे भाई हैं, सभी की समान भाव से उन्नति में हमें प्रयत्नशील होना चाहिये। साम्यवाद का यही ध्येय होना उचित है। हमारे सनातनधर्म के साम्यवाद का रहस्य जिन महानुभावों के हृदय पटल में अङ्कित हो गया है, वे समझते हैं कि हमारे नित्य के कार्यों में कितना साम्यवाद है।

पञ्चमहायज्ञों को ही लीजिये। अश्वमेध, वाजपेय आदि यज्ञों का यज्ञ शब्द से ही व्यवहार किया जाता है। किन्तु जिन यज्ञों में कुछ भी व्यय नहीं होता, गरीब, अमीर सभी द्विजमात्र समान भाव से कर सकते हैं, उन पांच यज्ञों को महायज्ञ कहा है—

"अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥"

[वेद पढ़ना-पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण, श्राद्ध आदि पितृ-यज्ञ है, हवन देवयज्ञ है, बलि भूतयज्ञ है और अतिथियों की पूजा करना नृयज्ञ है।]

तर्पण को लीजिये। जिस प्रकार ब्रह्माजी का तर्पण किया जाता है, उसी प्रकार नदी, यक्ष राक्षस, पिशाच, सर्प, पशु, पक्षी, कहां तक कहें, वृक्ष वनस्पतियों तक का समान भाव से तर्पण होता है। अब पितृतर्पण का कार्य सुनिये। अपने पूज्य पिता, पितामहादि को जलाञ्जलि देने के बाद—

"देवासुरास्तथा यक्षा नागा गन्धर्वराक्षसाः।
पिशाचा गुह्यकाः सिद्धाः कूष्माण्डास्तरवः खगाः॥
जलेचरा भूमिचरा वाय्वाधाराश्च जन्तवः।
प्रीतिमेते प्रयान्त्वाशु मद्दत्तेनाऽम्बुनाऽखिलाः॥
येऽबान्धवा बान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः।
ते तृप्तिमखिला यान्तु ये चास्मत्तोभिकांक्षिणः॥"

[देव, दानव, यक्ष; नाग, गन्धर्व राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कूष्माण्ड, वृक्ष, पक्षी, जलचर, भूमि में रहने वाले और वायु में रहने वाले जन्तु आदि ये सब मुझ से दिये गये जल से शीघ्र तृप्ति को प्राप्त हों। जो मेरे बन्धु नहीं हैं और जो मेरे बन्धु हैं तथा जो मेरे अन्य जन्म के बन्धु हैं वे सब तृप्ति को प्राप्त हों, और जो कोई हमसे जल आदि की आकाङ्क्षा करते हों, वे भी तृप्ति को प्राप्त हों।]

अन्य जन्म के बन्धुओं से तो सभी प्राणीमात्र का सम्बन्ध है, क्योंकि सभी योनियों से किसी-न-किसी जन्म में अवश्य सम्बन्ध रहा ही होगा! फिर भी, कोई न छूट जाय इसलिए कहा है—

"आब्रह्मभुवनाल्ँलोकानिदमस्तु तिलोदकम्।"

कैसा साम्यवाद है!

श्राद्ध को लीजिये। ब्राह्मण भोजन के पूर्व पञ्चग्रासी होती है, जिसके अधिकारी गौ, श्वान, काक, पिपिलिका आदि होते हैं। ये सब समानभाव से पूजे जाते हैं। बलि

वैश्वदेव की कहां तक प्रशंसा की जाय! ५ मिनट में तीन महायज्ञ सम्पन्न होते हैं—देवयज्ञ, पितृयज्ञ, और अतिथियज्ञ। और एक रहस्य की बात सुनिये—भगवान् ने २४ अवतार ग्रहण किये हैं, उनमें व्यास, सनक राम-कृष्ण आदि के साथ ही मत्स्य, कूर्म्म, वराह अवतार भी हैं। स्वयं भगवान् श्रीमुख से अपने भक्त उद्धव से कहते हैं—

"ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥" (भा० ११।२६।१४)

[ब्राह्मण में, अन्त्यज में, चोर में, ब्राह्मण को धन देने वाले में, सूर्य में, चिनगारी में शान्त पुरुष में, क्रूर में समान दृष्टि करने वाला पण्डित है।]

इसी प्रकार गीता में अर्जुन के प्रति—

'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' (गी० ५।१८)

समान भाव से देखने वाला, वर्त्ताव करने वाला नहीं। वर्ताव तो समान हो ही नहीं सकता। वर्त्ताव का उपदेश होता तो 'समवर्त्तिन' तथा 'समवर्ती' पाठ होता।

उपासना कब तक करनी चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

"यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायकर्मभिः॥"
(भा० ११।२६।१७

"अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायकर्मभिः॥"

(भा० ११। २९। १९)

[जब तक सब प्राणियों में मेरी भावना नहीं हो जाय तब तक मन, वचन, तन और कर्म से इसी प्रकार मेरी उपासना करता रहे। सब प्राणियों में मन, वचन, कर्म से मेरी भावना करना ही सब प्रकार के उपायों में सब से सुन्दर उपाय है।]

भगवान् का यह उपदेश परमोत्कृष्ट साम्यवाद है। वर्तमान समय में गीता में श्रद्धा रखते हुए भी कतिपय लोग सन्ध्या, तर्पणादि से विमुख रहते हैं। यह देख कर क्षोभ होता है कि जिस कार्य को स्वयं भगवान् करते थे, उसको नितान्त उपेक्षा से देखते हुए भी हम लोग अपने को भगवद्भक्त कहने में तनिक भी नहीं हिचकते। भगवान् की अहोरात्र की चर्या को दिखाते हुए महर्षि वेदव्यासजी लिखते हैं—

"ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम्॥"

(भा० १०। ७०। ४)

"अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि
क्रियाकलापं परिधाय वाससी।
चकार सन्ध्योपगमादि सत्तमो
हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः॥"५॥

(भा० १०। ७०। ५)

"उपस्थायार्कमुद्यन्तं तर्पयित्वाऽऽत्मनः कलाः ।
देवान् ऋषीन् पितॄन् वृद्धान् विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान् ॥"
(भा० १० । ७० । ९७)

[भगवान् श्रीकृष्ण प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठ कर हाथ पांव धो शुद्ध जल से आचमन करके प्रसन्न मन होकर माया से परे निज शुद्ध रूप का ध्यान करते थे ।

ध्यान करने के बाद पुरुषश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण निर्मल जल में स्नान कर, वस्त्र पहन कर के सन्ध्यावन्दन आदि कृत्यों को करते थे और तत्पश्चात् वह्नि में हवन करके मौनी हो गायत्री का जप करते थे ।

तदनन्तर आत्मवान् भगवान् उदित होते हुए सूर्य का उपस्थान कर और अपने अंशरूप देवता, ऋषि और पितरों का तर्पण कर अपने कुल के बूढ़ों तथा ब्राह्मणों की पूजा कर गोदान आदि पुण्य कर्म करते थे ।]

यदि भगवान् कृष्ण पर हमारा सच्चा प्रेम होता तो कभी सन्ध्या, तर्पण आदि छोड़ते ?

पुराण श्रवण हमारा प्रायः बन्द हो गया है। जब अपने सिद्धान्तों का पता नहीं, तब दूसरा जैसी भी उलटी पुलटी बात कहे, उसी को मान लेने के अतिरिक्त उपाय ही क्या है ? इस प्रकार संस्कृत विद्या के अध्ययन का ह्रास और अपने पुराणों के अध्ययन श्रवण के बन्द होने से ही वर्तमान समय में विकट परिस्थिति उत्पन्न हो गई है। मनमाने पन्थ चलाने में किसी को भी सङ्कोच नहीं होता। 'जाति-पाति तोड़क'

संस्थाएँ बन गई हैं। बिना पढ़े ही अपना मत लोग देने लगे और भोली भाली जनता अनुकरण करने लगी।

मारवाड़ी जाति के समुज्ज्वल रत्न भक्तवर श्रीजयदयालुजी गोयनका का परिचय देना सूर्य को दीपक दिखाना है, जिन्होंने कभी गोरखपुर से निकलने वाले कल्याण को देखा होगा, वे भक्तराजजी से अपरिचित नहीं होंगे। उन्होंने अनेक लेखों द्वारा और विशेष कर अपनी अहोरात्र की चर्या द्वारा जनता में और विशेष कर उस वैश्य समुदाय में जिनकी वृत्ति अहोरात्र व्यापार में संलग्न रहती है, भगवन्नाम, कीर्त्तन, ध्यान आदि की रुचि पैदा करके निःस्वार्थ सेवा की है। उनका परिचय उनकी वृत्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकता है।

दूसरे हैं श्री गौरीशङ्करजी गोयनका। ये मेरे सहाध्यायी हैं। इनकी प्रशंसा करना मानों अपनी ही प्रशंसा करना है। इनके पास बैठने से और इनकी बात सुनने से मुझे सुख होता है। संस्कृत की सेवा जो इनके द्वारा भगवान् ने कराई है, मैं समझता हूँ भारतवर्ष के संस्कृतज्ञों से वह अपरिचित नहीं है। भगवान् श्री विश्वनाथजी ने इनके ऊपर बड़ी ही कृपा की है, कि अपने निज मोक्षधाम काशीपुरी में और ठीक अपने पार्श्व ज्ञानवापी में इनको रहने को स्थान दिया है।

इन्हीं दोनों सज्जनों की यह प्रेमलीला है, जिसमें दोनों ओर से सौहार्दपूर्णभाव से सत्य सिद्धान्त समझने समझाने

की चेष्टा की गई है। सर्व साधारणोपयोगी समझ कर इन्हीं दोनों महानुभावों के अक्षरों में पाठकों के सामने रखने की इच्छा से उक्त विचारों को मैंने पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया है। आशा है हमारे योग्य पाठक धैर्य और प्रेम से एक बार पढ़ कर अपने देश के एक अबोध बालक के परिश्रम को सफल बनावेंगे।

सबका सेवक—
महता रामशङ्कर
(अनूपशहर निवासी)

हरद्वार,
ज्ये० शु० १० शुक्रवार
१९९०

॥ श्रीः ॥

मननीय प्रश्नोत्तर ।



अर्द्धकुंभी का शुभ अवसर है, हरिद्वार में चारों ओर नाना प्रकार के दृश्य दिखाई दे रहे हैं। बड़े बड़े तपस्वी, सन्यासी, विद्वान्, धनी, गृहस्थ लाखों की संख्या में सुदूर भारतवर्ष के प्रत्येक कोने से आये हुए हैं। मुमुक्षु-भवन, काशी के सुप्रसिद्ध परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीस्वामी घनश्यामानन्दजी अपने गुरुदेव परमपूज्य श्री ईश्वरानन्दजी सहित आये हुए हैं। परमतपस्वी विद्यामूर्ति परमहंस परिव्राजकाचार्य करपात्रीजी (इनको श्रीपरमहंसजी भी कहते हैं, आप साक्षात् ब्रह्मर्षि शुकदेव के अवतार हैं) पैदल ही नरवर से पधारे हैं। (ये महातपस्वी हैं, कभी रेल मोटर की सवारी पर सफ़र नहीं करते) गोस्वामी श्रीगणेशदत्तजी सनातनधर्मप्रतिनिधि-सभा, पंजाब के मंत्री अपने दल बल के साथ आये हुए हैं। पीलीभीत के सुप्रसिद्ध साहु श्रीलालताप्रसादजी ने गंगा-तटवाली कोठी में भीमगोडे पर विशाल मनोहर कैम्प लगाया है। इसी कैम्प में महामना पूज्य श्रीमदनमोहन मालवीयजी ठहरे हुए हैं। इधर विडला रोड के समीप वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ का कैम्प भी अपनी अन्तिम अवस्था का परिचय देता हुआ और मरते दम तक कार्य करेंगे इस प्रकार अपनी धर्मनिष्ठा का विज्ञापन देता हुआ सुशोभित है। उधर ऋषिकुल का उत्सव है, जिसमें

श्रीजगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यजी श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी, महामहोपाध्याय डाक्टर श्री गंगानाथजी झा, वाइस चांसलर प्रयाग यूनिवर्सिटी, महामहोपाध्याय पं० गिरधरशर्माजी चतुर्वेदी, रायसाहब पं० दुर्गादत्तजी पन्त, व्याख्यान-वाचस्पति पं० श्रीदीनदयालुजी शर्मा, बरेली-निवासी प्रसिद्ध कवि श्रीराधेश्यामजी आदि अनेक गण्य मान्य महानुभाव पधारे हैं। भारत के सुप्रसिद्ध व्यापारी श्रीजुगलकिशोरजी बिड़ला अपने गंगातटवाले बिडला-भवन को सुशोभित कर रहे हैं। इनके समीप ही गंगातटवाले मकान में सुप्रसिद्ध सेठ श्रीताराचन्दजी-घनश्यामदासजी के फार्म के मालिक सनातनधर्म के स्वरूप श्रीसेठ केशवदेवजी पोद्दार अपने पुत्र भक्तवर श्रीनिवासजी पोद्दार के साथ विराजमान हैं। इन्हीं के पास बंगाल के सुप्रसिद्ध महात्मा श्रीविश्वनाथजी ठाकुर अपनी मंडली सहित ठहरे हुये हैं और प्रायः नित्य रात्रि को भगवत्-कीर्तन कर अनेक प्राणियों को सुख दे रहे हैं।

इधर सुप्रसिद्ध रुई और कपड़े के व्यापारी श्रीसेठ साधुरामजी-तुलारामजी के फार्म के मालिक श्रीसेठ तुलारामजी गोयनका मारवाड़ी पंचायती-धर्मशाला में ठहरे हुए हैं। इनके साथ इनके भतीजे मेरे बचपन के मित्र गौरीशंकरजी भी हैं। इन्होंने और मैंने प्रस्थानत्रय और वेदान्त के कतिपय ग्रन्थों का अध्ययन पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय श्री १०८ गुरुदेव श्री अच्युत मुनिजी की पुण्यसन्निधि में साथ-साथ किया है। इसी लिये मैं भी इनके साथ पंचायती-धर्मशाला में ठहरा हुआ हूँ।

भक्तप्रवर श्रीसेठ जयदयालुजी गोयनका अपनी मंडली के साथ स्वर्गाश्रम में ठहरे हुए हैं।

इस प्रकार चारों तरफ आनन्द का समुद्र उमड़ रहा है। पर्व के दिन जन-समुदाय का अपूर्व उत्साह देखते चित्त मुग्ध हो जाता है। किसी प्रकार हर की पैडी से उतर कर ब्रह्मकुण्ड में पतितपावनी श्रीजाह्नवी में गोता लगावें, बस एक यही ध्येय लाखों नर-नारियों के चेहरे में अङ्कित हो रहा है। कर्त्तव्य-परायण पुलिस और सेवा-समिति का प्रबन्ध और परिश्रम सराहनीय है। सेनेटरी प्रबन्ध भी स्तुत्य है। इस भीड़ में कहीं दुर्गन्धि का नाम नहीं। सड़क के ऊपर यदि कोई थूकता है, तो तुरन्त उसके ऊपर चूना गिराया जाता है। रेलवे का प्रबन्ध भी देखने लायक है। इतने बड़े मेले में भी स्टेशन पर भीड़ का नाम नहीं, यात्रियों को टिकिट लेने के समय तनिक भी भीड़ का क्लेश नहीं है, प्लेटफार्म पर जाकर यह अनुभव ही नहीं होता है कि कोई मेला है। इस प्रकार सभी दिशाओं में आनन्द और उत्साह का अपूर्व दृश्य देख प्रातः स्मरणीय भगवान् भाष्यकार श्रीशंकराचार्यजी के लगाये हुए इस महा-वृक्ष को, ऐसे कठिन समय में जब कि चारों ओर से इस वृक्ष के मूलोच्छेद करने को अनेक प्रकार के तूफान आये हुए हैं, इतना पुराना होने पर भी, हरा-भरा देख किस धर्मपरायण प्राणी का मन आनन्द से उल्लसित न होगा। अर्द्धकुम्भी का स्नान कुशलपूर्वक हो गया। बहुत-से यात्री अपने-अपने घरों को चले गये हैं।

मिति वैशाख कृष्ण ८ को सायंकाल लगभग ५ बजे श्री-सेठ गौरीशंकर गोयनकाजी ने मुझसे कहा, 'चलो श्रीम गोडे चलें और श्रीमालवीयजी से मिल आवें', यह सुनकर मैं तैयार हो गया और उनके साथ मोटर में जा बैठा। उस दिन श्रीगोय-नकाजी रोज से कहीं अधिक प्रसन्न थे, मोटर में बात २ में हंसते थे, मालूम पड़ता था कि कोई परम सुखसमाचार उन्हें उसी दिन प्राप्त हुआ है। उनके आनन्द से मैं भी आनन्दमग्न था। इस प्रकार आनन्द में निमग्न हम लोग श्रीमालवीयजी के कैम्प में जा पहुंचे। पूज्य श्रीमालवीयजी कैम्प में विराज-मान थे। उनके सन्मुख कई लोग बैठे थे और वारी २ से श्रीमालवीयजी से मिल रहे थे। हम लोग भी जाकर पूज्य श्रीमालवीयजी के संकेत से निर्दिष्ट स्थान पर वैठ गये। प्रणाम आदि के पश्चात् श्रीमालवीयजी ने श्रीगोयनकाजी से मेरा परिचय पूछा। गोयनकाजी ने श्रीमालवीयजी को मेरा परिचय दिया। तदनन्तर हम लोग बैठ गये। जब हम लोगों की बारी आई, तब बात चीत शुरू हुई।

गोयनकाजी—महाराज! श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार ने मुझसे एक वार कहा था कि श्रीमालवीयजी का विचार श्रीमद्भागवत में से रास-पंचाध्यायी निकाल देने का है, यह बात कहाँ तक ठीक है?

श्रीमालवीयजी—राम, राम! ऐसा कभी हो सकता है क्या? पोद्दारजी ने समझा नहीं। रास-पंचाध्यायी का एक एक अक्षर माननीय है। उसको निकालने की बात कौन कहेगा।

हाँ, कुब्जा-प्रसङ्ग प्रक्षिप्त मालूम होता है। उसको तो निकालने का मेरा विचार है, क्योंकि वह विषय किसी प्रकार बैठता ही नहीं है।

श्रीगोयनकाजी—महाराज! बड़ा सन्तोष हुआ, तपस्वी विद्वान् रसिक लोग रास-पंचाध्यायी को श्रीमद्भागवत का हृदय बताया करते हैं, उसको निकालने की बात सुन कर बड़ा उद्वेग हुआ था। कुब्जा-प्रकरण पर तीन चार वर्ष से मुझे भी बड़ी शंका थी, जब कि

'न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।'
'मम वर्त्माऽनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः।'
उत्सीदेयुरिमे लोकाः न कुर्यां कर्म चेदहम्।'
'संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।'

गीता में भगवान् कृष्ण की पद पद में ऐसी घोषणा है, तब कुब्जा-प्रकरण परमत्यागी अवधूत श्रीशुकदेवजी के मुख से मुमूर्षु राजा परीक्षित् के प्रति किस अभिप्राय के से निकला? इस प्रसङ्ग से जनता का क्या कल्याण? इत्यादि बातें सोचता रहता था। सो आज ही सायंकाल ४ बजे एक महानुभाव की महती कृपा से शंका समूल नष्ट हो गई। चित्त आनन्द सागर में गोते लगा रहा है। आप भी देखते होंगे कि आज मैं रोज से कहीं अधिक प्रसन्न हूँ।

श्रीमालवीयजी—कहो! कहो! कैसे शंका-निवृत्ति हुई, कौन महानुभाव थे? उन्होंने कैसे समझाया?

श्रीगोयनकाजी—महाराज ! यह सब कथा एकान्त की है। मेरी प्रार्थना है कि कुब्जा-प्रकरण निकालने का निश्चय करने के पूर्व इस विषय पर श्रीपरमहंसजी (श्रीकरपात्रीजी) से मिल लीजिये।

श्रीमालवीयजी—ये महानुभाव कौन हैं और कहाँ ठहरे हुए हैं ?

श्रीगोयनकाजी—हृषीकेश से लगभग १ मील इधर गंगा-तट पर कुटी में ठहरे हुए हैं। यदि आप वहां जाना चाहें तो मैं आपके साथ अपना आदमी भेज सकता हूँ।

श्रीमालवीयजी—मैं कल ही वहाँ जाऊँगा, तुम उनसे मिलने का प्रबन्ध कर दो।

श्रीगोयनकाजी—बहुत अच्छा ! इसके पश्चात् और कई प्रकार की बातें हुईं, जिनसे हमारे पाठकों का कोई सम्बन्ध नहीं है। हम लोग थोड़ी देर बाद मोटर से पंचायती धर्मशाला में वापिस चले आये। दूसरे दिन प्रातःकाल श्री-मालवीयजी श्रीगोयनकाजी से मिलने पंचायती धर्मशाला में पधारे। बहुत देर तक अन्यान्य विषयों में गोयनकाजी से बात करते रहे। पश्चात् उन्होंने परमहंस (करपात्रीजी) से मिलने की इच्छा प्रकट की।

श्रीगोयनकाजी ने अपने मुनीम श्रीबद्रीप्रसादजी को श्री-मालवीयजी के साथ परमहंसजी से मिलाने के निमित्त भेज दिया और श्रीमालवीयजी मोटर में बैठ कर विदा हुए।

आज वैशाख कृष्ण एकादशी का दिन है। हम लोग व्रती

हैं, भोजन करना है नहीं। श्रीसेठ तुलाराम गोयनकाजी ने श्रीपरमहंसजी के दर्शन करने और हृषीकेश जाने का विचार किया है। साथ में गौरीशंकरजी और मैं भी हूँ। हम लोग मोटर से लगभग ग्यारह बजे श्रीपरमहंसजी की कुटी पर पहुंच गये। वहाँ देखा कि कई ग्रन्थ खुले हुए हैं और पूज्य श्रीपरमहंसजी उनको देख कर कुछ नोट कर रहे हैं।

श्रीगौरीशंकरजी ने प्रणाम आदि कर पूछा—आज तो बहुत ग्रन्थ आपके समीप देख रहा हूं। कोई नवीन समस्या है क्या ?

श्रीपरमहंसजी—यह सब तुम्हारी ही माया है। तुमने श्रीमालवीयजी को मेरे पास भेज दिया, यह सब उसी का फल है।

श्रीगोयनकाजी—महाराज ! कुब्जा-प्रकरण का रहस्य जानने के लिए मैंने प्रेरणा की थी। उससे इन ग्रन्थों से क्या सम्बन्ध ?

श्रीपरमहंसजी—भाई ! कुब्जा-प्रकरण की तो कथा भी नहीं चली। श्रीमालवीयजी ने अछूतों का उद्धार तथा उनको सप्रणव दीक्षा में अधिकार है यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया और इसी विषय पर आज सायंकाल ५ बजे हृषीकेश में श्रीमालवीयजी से हम लोगों का विचार होनेवाला है, तुम भी उस सभा में आना।

श्रीगोयनकाजी—(मस्तक झुका कर) भगवन् ! बड़ा दुःख हुआ, मैंने आपको बड़ा कष्ट दिया। ऐसा मालूम होता तो मैं श्रीमालवीयजी से जिक्र ही न करता।

श्रीपरमहंसजी—नहीं भाई! दुःख की कोई बात नहीं है। यह प्रश्न तो आज कल परम विचारणीय है, अछूतों की उन्नति की अपेक्षा घोर अनर्थ हो रहा है। दोनों ओर से घोर अधः-पतन हो रहा है।

फिर श्रीसेठ तुलारामजी और श्रीपरमहंसजी के शास्त्रीय विषय पर कई प्रसंग चले। सायंकाल ५॥ बजे हम लोग सब हृषीकेश वसुधारा के तट पर, जहाँ कि श्री-मालवीयजी की मंडली एक फर्श पर बैठी हुई थी, जा पहुंचे। समीप ही में कोई २० गज के फासले पर अनेक विद्वान् और दण्डी सन्यासियों के मध्य में श्रीपरमहंसजी श्रीजगज्जननी जाह्नवी की परम रम्य वालुका में बैठे हुए थे और श्रीमालवीयजी के शुभागमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। थोड़ी देर बाद मोटर से श्रीमालवीयजी पधारे, उनको लेने के लिए श्रीगोयनकाजी गये। जैसे श्रीमालवीयजी मोटर से उतरे, श्रीगोयनकाजी ने कहा—भगवन्! यह क्या दृश्य देख रहा हूँ। श्रीपरमहंसजी अपनी मंडली के साथ पृथक् बैठे हैं और आपकी मंडली पृथक् बैठी है, यह अच्छा नहीं है। श्रीमालवीय-जी बोले कि मैं श्रीपरमहंसजी को अभी इधर ले आता हूँ। इतनी बात होने के बाद श्रीमालवीयजी और श्रीगोयनकाजी श्रीपरमहंसजी के पास गये और प्रार्थना कर उनको अपने मंडल में ले आये। इतने में ही भक्तप्रवर श्रीजयदयालु गोयन-काजी भी पाँच सात आदमियों के साथ आ पधारे और श्रीमालवीयजी ने उनको आते देख सत्कारपूर्वक अपने पास

बैठा लिया। पहले श्रीमालवीयजी ने सम्पूर्ण जनता को सम्बो-धन करते हुए व्याख्यान दिया, जिसमें श्रीपरमहंसजी और साधु-मंडली से शिष्टाचारपूर्वक कहा कि ऐसे शुभ अवसर पर अनेक शंकाओं का उच्छेद होगा और जनता का विशेष लाभ होगा। इसके पश्चात् श्रीपरमहंसजी ने श्रीगोयनकाजी से प्रारम्भिक व्याख्यान देने के लिए कहा और श्रीमालवीयजी ने अनुमोदन किया। तब श्रीगोयनकाजी खड़े होकर दस पन्द्रह मिनट बोले। उसका सारांश यही था कि जो सुविधा हम लोगों की ओर से ईसाई और मुसलमानों को दी जाती है, वह अछूतों को दी जा सकती है क्या? क्या अछूतों का किसी हद तक मन्दिर प्रवेश हो सकता है? क्या उनको प्रणव सहित अथवा प्रणव रहित दीक्षा दी जा सकती है? इत्यादि।

इसके पश्चात् श्रीमालवीयजी ने सनातन-धर्म-प्रदीप नामक स्वरचित पुस्तक से अनेक प्रमाण उपस्थित करते हुए इतिहास पुराण सुनने और पढ़ने का अधिकार अन्त्यजपर्यन्त मनुष्य मात्र को है ऐसा सिद्ध किया। उसके खण्डन में शास्त्रीय अनेक प्रमाण देते हुए श्रीपरमहंसजी ने कहा कि शूद्र आदि को केवल इतिहास-पुराण सुनने का अधिकार है, सो भी ब्राह्मण आदि को आगे बैठा कर। आपने उक्त कथन की पुष्टि के लिए,अन्यान्य प्रमाणों के साथ महाभारत में आये हुए—

'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः।'

इस श्लोक की व्याख्या की। श्रीमालवीयजी ने कहा कि यह श्लोक तो वेदविषयक है, ब्राह्मण आदि को आगे बैठा कर

वेद को केवल सुनने का अधिकार शूद्रादि को महर्षि वेदव्यास-जी ने दिया है। इतिहास पुराण की सृष्टि तो शूद्र आदि के लिए ही हुई है। इस विषय में अनेक स्थलों के प्रमाण देते हुए

"पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्,
जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात्।"

वाल्मीकि रामायण में आये हुए 'पठन्' शब्द का अन्वय चारों वर्णों के साथ समान भाव से है इत्यादि कहा। इसका मीमांसा की रीति से परमहंसजी ने खण्डन किया। खण्डन में अनेक दूसरे प्रमाणों के साथ भविष्य पुराण में आये हुए

"अध्येतव्यं न चाऽन्येन ब्राह्मणक्षत्रियौ विना,
श्रोतव्यमेतत् शूद्रेण नाऽध्येतव्यं कदाचन।
तस्मात् शूद्रैर्विना विप्रात् न श्रोतव्यं कदाचन।"

ये श्लोक उपस्थित किये। तब श्रीमालवीयजी बोले कि ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि इनमें वैश्य को भी पढ़ने का अधिकार नहीं दिया गया है। ऐसा कहना दूसरे प्रमाणों से बिलकुल विरुद्ध है। इस पर श्रीपरमहंसजी ने बहुत देर तक समझाया इस प्रकार क्षेपक मानने में बहुत अनर्थ हो जायगा। किन वचनों को क्षेपक मानें, किनको प्रमाण मानें? अपनी मनमानी कल्पना से अर्थ का अनर्थ होगा। वेदों में भी इस प्रकार के वाक्य आते हैं, जैसे

"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥"

इसमें यद्यपि प्रत्यक्षतः 'ब्रह्म च क्षत्रं च उभे' आदि शब्द हैं, तथापि सम्पूर्ण जगत् ही चावल के स्थान में माना गया है, क्योंकि भगवान् सब ही के संहारकर्ता हैं। इसको क्षेपक कोई नहीं कह सकता। इसी प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रिय शब्द वैश्य के भी उपलक्षक हैं। यदि वैश्य के पठन का निषेध होता तो नीचे जैसे 'श्रोतव्यमेतत् शूद्रेण' में शूद्र का अध्ययन में निषेध कर श्रवणलक्षण गत्यन्तराभिधान किया है, वैसे वैश्य का भी निषेध कर वैश्य के लिए भी गत्यन्तराभिधान करते।

किन्तु श्रीमालवीयजी को यह सब बात नहीं जँची, वे क्षेपक ही कहते रहे। इस प्रकार रात्रि के लगभग ९ बज गये, तब गोयनकाजी ने उकता कर दोनों पक्षों से शास्त्रार्थ बन्द करने की प्रार्थना की। श्रीपरमहंसजी ने गोयनकाजी से कहा कि तुम क्या समझे हो ? खड़े होकर कहो। श्रीगोयनकाजी ने खड़े होकर कहा—"मैंने शास्त्रार्थ से यही समझा कि इतिहास-पुराण पढ़ने का अधिकार शूद्र आदि को नहीं है, केवल सुनने का अधिकार है।" फिर भक्तराज श्रीजयदयालुजी से उनका मत प्रगट करने को कहा गया। उन्होंने खड़े होकर कहा—"दोनों प्रकार के ही प्रमाण मिल रहे हैं, अतः मैं यह निर्णय नहीं कर सकता हूँ कि शूद्र आदि को पढ़ने का अधिकार है या नहीं।" (इस बीच में इनके शास्त्रार्थ होते हुए ही श्रीजयदयालु गोयनकाजी, श्रीगौरीशङ्कर गोयनकाजी और श्रीहरिकृष्ण गोयनकाजी ने अलग बात-चीत की, तब सबसे प्रथम श्रीहरिकृष्णजी गोयनका ने स्पष्टतया कहा कि

मुझको तो श्रीमालवीयजी का मत ठीक मालूम होता हैं।)

इसके बाद जय ध्वनि के साथ सभा विसर्जित हुई। लोग अपने २ घर चले गये। इसके पश्चात् गोयनकाजी ने भक्त-प्रवर श्रीजयदयालुजी को निम्नलिखित पत्र दिया।

पंचायती-धर्मशाला
हरिद्वार।
वैशाख कृ० १२

परमश्रद्धेय पूज्य श्रीजयदयालु जी !

सादर प्रणाम।

परसों रात्रि को हृषीकेश में आपका निश्चयरहित मत सुनकर मेरे मन पर बड़ा आघात पहुंचा। मेरे सदृश क्षुद्र पुरुषों के निषिद्ध आचरण एवं शास्त्रगर्हित विचारों से केवल उन्हीं की हानि होती है। किन्तु आप सदृश महानुभाव नेताओं के थोड़े भी सन्देहात्मक विचारों अथवा आचरणों से उस बृहत् जनसमूह का अधःपतन होता है, जो आप लोगों के आचरण और विचारों को अपना ध्येय मान कर तदनुकूल व्यवहार करने की चेष्टा करता है। श्रीयुत हरिकृष्णजी (आपके कनिष्ठ भ्राताजी) ने स्पष्टतया पूज्य श्रीमालवीय-

जी के मत का समर्थन किया था। जब मैंने 'ब्रह्मसूत्र' की बात कही, तब उनके उत्तर से मुझे निश्चय हुआ कि अपशूद्राधिकरण उनका विचारा हुआ नहीं है।

आपके व्याख्यान से भी मेरे मन में यही बात आई है। इसलिये ब्रह्मसूत्र आपके समीप भेजता हूँ। यह अधिकरण (१) पृष्ठ ४१६ से पृष्ठ ४२८ तक चलता है। कृपया इस पर सम्यक् विचार कीजियेगा। पृष्ठ ४२८ सूत्र ३८ से तो स्पष्ट वर्णन है। अब जिस बात पर झंझट था-

'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः।'

यह वाक्य इतिहास पुराण के लिये आया है अथवा वेद के लिये? पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय भगवान् भाष्यकार उपर्युक्त वाक्य को स्पष्ट इतिहास-पुराण के लिये घोषित कर रहे हैं। यही नहीं श्रीमद्रामानुजाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीमाधवाचार्य और षड्दर्शन पर समान विचार करनेवाले श्रीवाचस्पतिमिश्र आदि अनेक व्याख्याकार परस्पर में अनेक विरोध रहते हुए भी इस बात को तो इतिहासपुराण परक ही स्वीकार करते हैं। काशी में उपर्युक्त सम्पूर्ण वैष्णवाचार्यों के भाष्य इस सूत्र पर मैंने देखे थे। अब आप ही आज्ञा दीजिये कि उपर्युक्त महानु-

---

(१) स्मरण रहे कि इस अधिकरण में केवल शूद्रों के लिए विचार किया गया है और आज कल तो अन्त्यजों को मन्त्रदीक्षा देना धर्म्म माना जा रहा है।

भाव और आजकल की ऋषि-मंडली, जिनकी तरफ से परमपूज्य श्रीपरमहंसजी बोल रहे थे, की बात मानें कि पूज्य श्रीमालवीयजी की बात मानें ? महानुभाव ! ईश्वर को मानने वाले और नहीं मानने वाले, शास्त्रों को मानने वाले और उनका खण्डन करनेवाले, मूर्ति-पूजा को मानने वाले और उसकी निन्दा करने वाले, 'कहां तक लिखूं' एक विद्वान् सज्जन ने काशी में मुझसे कहा था कि गोवध जैसा घृणित कार्य भी अपने शास्त्रों में सिद्ध है। आपाततः प्रतीयमान इस प्रकार के विरुद्ध निर्णयों को समझने के लिए "महाजनो येन गतः स पन्थाः" के अतिरिक्त उपाय भी क्या है ? यदि ब्रह्मसूत्र को देखकर भी आप अपनी निश्चित सम्मति नहीं दे सके, तो मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ श्रीस्वामी ईश्वरानन्दजी महाराज और श्रीघनश्यामानन्दजी महाराज अथवा और किसी महानुभाव से जिन पर आपकी श्रद्धा विशेष हो, उपर्युक्त प्रश्न को समझकर और अपनी एक निश्चित सम्मति कर सूचना देने की कृपा कीजिये। भाईजी, आप मुझे लिखेंगे, तो इसके लिए मैं आपके समीप स्वयं उपस्थित हो सकता हूँ।

भवदीय
गौरीशङ्कर गोयनका

स्वर्गाश्रम
वैशाख कृ० १३ सं० १९९०

श्रीमान् भाई गौरीशंकरजी,

सादर यथायोग्य ।

आपका पत्र मिला, समाचार विदित हुए । ब्रह्मसूत्र का अपशूद्राधिकरण देखा । उस पर विचार करने से स्पष्ट ही प्रकट होता है कि यह मीमांसा वेद की है और वेद का पढ़ना सुनना शूद्र के लिए निषिद्ध सिद्ध किया गया है । इस प्रकरण से यह किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता कि इतिहास और पुराणों के पढ़ने में शूद्र का अधिकार नहीं है ।

'श्रावयेत् चतुरो वर्णान्' यह श्लोक भाष्यकार ने इतिहास पुराणविषयक माना है, यही ठीक भी है । पर इससे तो यही सिद्ध होता है कि शूद्रों को इतिहास-पुराण सुनने का अधिकार है । इससे पढ़ने के अधिकार का निषेध सिद्ध नहीं होता । रही स्पष्ट सम्मति की बात, सो प्रमाण दोनों तरह के मिल रहे हैं । अतः मानने वाला दोनों को ही मान सकता है । जिस ग्रन्थ में उसके पढ़ने का स्पष्ट अधिकार शूद्रों को दिया गया है, उसका प्रतिवाद जब तक उसी ग्रन्थ में न पाया जाय, दूसरी जगह का सामान्य भाव से प्रतिवाद किया हुआ उसमें लागू नहीं होता, क्योंकि सामान्य वचन से विशेष वचन बलवान् होता है ।

इसके सिवाय आज कल का समय देखते हुए तो यदि इतिहास-पुराण पढ़ने का अधिकार शूद्रों को न भी दिया होता तो

भी इतनी-सी रियायत करने के लिये अच्छे पुरुषों को विचार करना आवश्यक होता।

हां, यह बात अवश्य है कि जिसकी समझ में निषेधात्मक प्रमाण बलवान् जँचते हों, वह शूद्रों को इतिहास-पुराण न पढ़ावें। उसके लिए यह आग्रह नहीं है कि सभी को पढ़ाने के लिए बाध्य किया जाय।

मेरी निजी राय है कि मैं शूद्रों को इतिहास-पुराण पढ़ाने में आपत्ति नहीं समझता। इन्हीं सब कारणों से मैंने जल्दी में उस दिन थोड़ी बात कह कर काम समाप्त कर दिया।

आपके भेजे हुये *विज्ञापन बंटवा देने का विचार है। मुझे बदले में राम राम ही लिखना चाहिये।

मुझसे मिलने की इच्छा प्रकट की, सो आपके प्रेम की बात है।

उस दिन आप विना भोजन किये ही चले गये। यहां आपके लिये सब प्रबन्ध किया था। सभा-भंग होने के पश्चात् मैंने आपको ढूँढ़ा, पर आप नहीं मिले।

आपका स्नेही—
जयदयाल गोयनका, स्वर्गाश्रम।

---

* जो विज्ञापन भेजे गये थे, पाठकों की जानकारी के लिए उनकी एक प्रति परिशिष्ट में दी गई है। —सम्पादक।

पंचायती-धर्मशाला,
हरिद्वार,
वैशाख शु० १

परमश्रद्धेय पूज्य श्रीजयदयालुजी,

सादर प्रणाम ।

कृपापत्र आपका मिला, पढ़ कर कई बात स्पष्ट करने की आवश्यकता प्रतीत हुई, इसलिए नम्रभाव से निवेदन करता हूँ ।

'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इस वाक्य को आप इतिहास-पुराण-विषयक मानते हैं, अथवा वेदविषयक ? आपके पत्र से ठीक स्पष्ट नहीं हुआ । कृपया स्पष्ट लिखियेगा ।

इतिहास-पुराणों को पढ़ाने में शूद्रों का अधिकार आपने स्वीकार किया है । इस विषय में आपने लिखा है कि दोनों तरह के प्रमाण मिल रहे हैं । सो श्रीमान् पूज्य मालवीयजी ने जो ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं, उनमें उन्होंने शूद्रों को इतिहास-पुराण पढ़ने का अधिकार सिद्ध किया है । उसके प्रमाण में दिये हुए वाक्यों पर मैंने विचार किया, ज्ञात हुआ कि स्तावक वाक्यों से विधि-कल्पना की गई है । जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को अध्ययन कराने के लिए शास्त्रों में विधायक वाक्य हैं, उसी प्रकार शूद्रों को अध्ययन कराने के लिए शास्त्रों के विधायक वाक्य यदि आपकी दृष्टि के गोचर हुए हों, तो लिखने की कृपा कीजियेगा । और पढ़ने-पढ़ाने के विरुद्ध स्पष्ट निषेधात्मक वाक्य जो पूज्य श्री-

परमहंसजी ने अनेक स्थलों से संग्रह कर उस दिन सुनाये थे, जिनमें यहां तक था कि शूद्रों का पतन होता है तथा उनको पढ़ाने वाले की भी अधोगति होती है। इस प्रकार के विधायक प्रबल वाक्यों के विना स्तावक वाक्यों के आधार पर दोनों तरह के प्रमाण मिल रहे हैं, कैसे कहा जाय ?

आपने लिखा कि आज कल का समय देखते हुए इतनी सी रियायत करने के लिए अच्छे पुरुषों को विचार करना आवश्यक है, सो यह दूसरी बात है। इस विषय में और भी कई प्रश्न उपस्थित होते हैं, सो नीचे लिखता हूँ।

(१) द्विजों को, अन्त्यजों का स्पर्श होने पर, स्नान करना चाहिये कि नहीं ?

(२) क्या द्विजों को अन्त्यजों के घर में जाकर उनके घरों की सफ़ाई करनी चाहिये ?

(३) क्या द्विजों को अन्त्यजों के साथ बैठकर उनके हाथ का दिया हुआ भोजन करना चाहिये ?

(४) देव-मन्दिरों में अन्त्यजों का प्रवेश जिस प्रकार से सनातनधर्म-सभा, प्रयाग ने निश्चय किया है, आपकी सम्मति में वह ठीक है अथवा उसमें किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता है ?

आपने लिखा कि मुझे राम राम लिखना चाहिये, सो मुझे ऐसी आज्ञा देने के पूर्व मोहनजी को देनी चाहिये, क्योंकि वे सदा मुझे प्रणाम ही लिखते हैं।

उस दिन मैं पूज्य श्रीमालवीयजी के साथ उठ गया

था और उस अन्धकार में फिर किसी का पता नहीं लगा। मेरे पास प्रकाश नहीं था, श्रीयोगानन्दजी की सहायता से धर्मशाला में पहुँच कर यहाँ चला आया। आपसे भेंट नहीं कर सका, इसके लिये क्षमा प्रार्थना है।

आपका स्नेही—

गौरीशङ्कर गोयनका।

स्वर्गाश्रम, वैशाख शु० २

श्रीमान् भाई गौरीशंकरजी,

सादर यथायोग्य !

आपका पत्र मिला, समाचार ज्ञात हुए। 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' यह श्लोक महाभारत में है। वह स्थल मेरा विचारा हुआ नहीं है, पर आचार्यप्रवर श्री १०८ शंकरस्वामी ने इसे इतिहास-पुराणविषयक ही माना है, अतः हमें भी वैसा ही मान लेना चाहिये।

इतिहास-पुराणों का अध्यापन करने का अर्थात् यह सब दूसरों को पढ़ाने का अधिकार मैंने शूद्रों का स्वीकार नहीं किया है, केवल श्रवण और अध्ययन का अधिकार स्वीकार किया है। मेरे पूर्व के पत्र से यदि आपने दूसरा अर्थ समझ लिया हो, या यहाँ से लिखने में किसी तरह की भूल हो गई हो, तो उसका सुधार कर लेना चाहिये। यह स्पष्ट समझ

लेना चाहिये कि शूद्र स्वयं पढ़ने का अधिकारी माना गया है। दूसरों को पढ़ाने का नहीं।

स्तावक वचनों को मैं कमज़ोर नहीं मानता, क्योंकि जिस ग्रन्थ में वे वचन लिखे गये हैं, उसी में यदि उसके विरोधी वचन होते तो क्लिष्ट कल्पना करने की आवश्यकता पड़ती। जब कि ऐसा विरोध न पाया जाय, तो कम-से-कम उस ग्रन्थ के लिए तो उसे प्रमाणरूप मानना ही चाहिये।

इतिहास-पुराणों को शूद्रों के लिए पढ़ने पढ़ाने का निषेध करने वाले जो शास्त्रों के वाक्य हैं, उनको भी मैं क्षेपक नहीं मानता। अतः इस पक्ष का समर्थन करने वालों का भी मैं विरोध नहीं करता। पक्षपात छोड़कर सचाई के साथ जिसका हृदय जिस बात को स्वीकार करता हो, वह उसी को काम में ला सकता है। ये दोनों पक्ष ही सिद्ध होते हैं, इसी लिये मैंने उस दिन दोनों का समर्थन किया था।

नये प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार है—

१ अन्त्यजों से स्पर्श होने पर द्विजों को स्नान करना चाहिये, यदि कोई न कर सके, तो यह उसकी कमी समझी जानी चाहिये।

२ अन्त्यजों के घर में जाकर उनके घरों की सफ़ाई करना द्विजों का कर्तव्य नहीं माना जा सकता। आपत्ति की बात दूसरी है।

३ अन्त्यजों के साथ बैठकर अथवा उनके हाथ का दिया हुआ भोजन द्विजों को नहीं करना चाहिये।

४ सनातनधर्म सभा प्रयाग ने देवमन्दिरों में प्रवेश करने के विषय में क्या निश्चय किया है, यह मेरे सामने अभी तक सैय्मर नहीं आया है और मैंने उस विषय में अपनी कोई सम्मति भी अभी तक स्थिर नहीं की है ~~जो कि~~ अत: उसका क्या उत्तर दूँ।

आपका स्नेही—

जयदयाल गोयनका।

श्रीः।

पञ्चायती-धर्मशाला,

हरिद्वार, वै० शु० ७।

परमश्रद्धेय पूज्य श्रीजयदयालुजी !

सादर प्रणाम।

कृपापत्र आपका मिला।

'स्तावक वचनों को मैं कमज़ोर नहीं मानता'। आपके इस वाक्य ने तो मेरे हृदय को गद्गद कर दिया। अहो! आप सदृश महानुभाव भक्त प्रवरों की ही ऐसी धारणा हो सकती है। परम पुनीत अन्तःकरण के ही ये उद्गार हो सकते हैं। क्या कहूँ, अति अल्प अध्ययन कर शास्त्रीय प्रक्रिया में ही

निरत-अन्तःकरण मेरे सदृश तुच्छ जन आपके प्रभाव को जानने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ?

महानुभाव ! विधायक वाक्यों से भी निषेधात्मक वाक्य प्रबल हैं और स्तावक वाक्य तो विध्यर्थ ही होते हैं। अन्यथा 'आदित्यो यूपः' 'यजमानः प्रस्तरः' इन वाक्यों का अर्थ कैसे लगाया जाय? क्योंकि आदित्य कभी यूप नहीं हो सकते। और यजमान प्रस्तर भी नहीं बन सकते। स्तावक वाक्य अर्थवाद हैं और अर्थवाद भी तीन प्रकार के होते हैं—

"विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः ॥"

इस प्रकार विधि भी तीन प्रकार की होती हैं। अपूर्व-विधि, नियम-विधि और परिसंख्यान-विधि। निषेधात्मक वाक्य इन सबसे ही प्रबल होते हैं। फिर सङ्कोच, अवकाश, अनवकाश इत्यादि से वाक्यों के बलाबल का विचार कर निर्णय करने की मीमांसकों की परिभाषा मेरे मन से दूर नहीं होती। क्या कभी भगवान् ऐसी कृपा करेंगे कि आपके स्वच्छ अन्तःकरण की छाया मुझे प्राप्त हो, जिससे विकल्प ही न उठें।

आपने लिखा जिस ग्रन्थ में यह वचन लिखे हैं, उसी ग्रन्थ में यदि विरोधी वचन होते, तो क्लिष्ट कल्पना करने की आवश्यकता होती, सो इस पर भी यह निवेदन करने का साहस करता हूँ कि ब्रह्मसूत्र में जहां विरोध परिहारात्मक

वाक्यों का निर्णय किया गया है, वहां एक ही ग्रन्थ के नहीं, किन्तु वह विषय जिन जिन ग्रन्थों में जहां जहां आता है, उन सभी वाक्यों पर विचार किया गया है। निर्णयसिन्धु, धर्मसिन्धु इत्यादि धर्मशास्त्रों के ग्रन्थों में भी जिस विषय को उठाया है, उसका उपर्युक्त रीति से ही निर्णय किया है और युक्ति से भी यही ठीक प्रतीत होता है। यदि अनेक ग्रन्थों के अनेक ध्येय हों, तो श्रद्धालु पुरुष तो असमंजस में पड़ जायं।

अब प्रकृत विषय पर आता हूँ, नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद में स्पष्टतया प्रणव का स्त्री और शूद्रों के लिए निषेध है।

"सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात् स्त्री शूद्रः स मृतोऽधो गच्छति तस्मात्सर्वदा नाऽऽचष्टे यद्याचष्टे स आचार्यस्तेनैव मृतोऽधो गच्छति।"(१।३।)

ब्रह्मसूत्रकार महर्षि वेदव्यासजी ने, भाष्यकार सम्पूर्ण आचार्यों ने और व्याख्याकार सम्पूर्ण विद्वानों ने इस बात को स्वीकार किया है। जब शूद्र आदि को प्रत्यक्ष श्रवण की भी आज्ञा नहीं है, श्रवण समय में भी उनको ब्राह्मण आदि को बीच में बैठाना होगा, फिर पढ़ने का अधिकारी अन्त्यज है यह कैसे हो सकता है? इत्यादि वाक्यों का विचार करता हुआ मेरा मन अन्त्यज को पढ़ने का अधिकार है यह कैसे स्वीकार करे? जिनके स्पर्श में स्नान आदि किये जाते हैं, उनको कौन पढ़ावे और वे किन के साथ पढ़ें? आपने लिखा कि दोनों पक्ष ही सिद्ध होते हैं। सो 'उदिते जुहोति' 'अनुदिते जुहोति' ऐसे स्थल में तो दोनों पक्ष स्वीकार

करने में कोई हानि नहीं होती, क्योंकि जिनकी शाखा में सूर्योदय के पूर्व हवन है, वे पूर्व करें, जिनकी शाखा में सूर्योदय के पश्चात् हवन का विधान है, वे उदय होने पर करें। इन दोनों में कोई संघर्ष नहीं होता। किन्तु अधिकारी विषयक प्रश्न में विरुद्ध दो पक्ष स्वीकार करने में तो बड़ा भारी विप्लव है। अब यदि उस पक्ष को मानने वाले इस पक्ष वालों से सरलभाव से पूछें कि—

"पठन् द्विजो वागृपभत्वमीयात् ।
जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात् ।"

इस वाक्य में 'पठन्' का अन्वय चारों वर्णों के साथ समान है, स्तावक वाक्य ही सही, किन्तु लगाया किस प्रकार जाय ? तो उत्तर बहुत स्पष्ट दिया जा सकता है। कठवल्ली में

'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ।'
(क० १।३।१)

इस मन्त्र में प्रत्यक्ष 'पिबन्तौ' द्विवचनान्त शब्द ईश्वर और जीव दोनों के लिये आया है, किन्तु ईश्वर कर्म फल का भोक्ता हो ही नहीं सकता, अतः व्याख्याकारों ने "जीवः पिबति, ईश्वरः पाययति" यही अर्थ किया है। अथवा 'छत्रिन्याय' से उपचारात्मक 'पिबति' शब्द स्वीकार किया है। जैसे कि मन्त्र में आया हुआ 'पिबन्तौ' शब्द ईश्वर वा जीव दोनों के प्रति दो अर्थों को देता है, उसी प्रकार एक श्लोक में आया हुआ

'पठन्' शब्द द्विज और शूद्र के प्रति दो पृथक् २ अर्थों को दे तो क्या हानि है? "द्विजः स्वयं पठन् सन्, शूद्रों ब्राह्मण-द्वारा पाठयन् सन्" अथवा जैसे "अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा" में 'जिज्ञासा' शब्द का अर्थ ज्ञान की इच्छा व्याकरण से होता है, किन्तु यहां ज्ञान का अजहल्लक्षणा द्वारा ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान और इच्छा का जहल्लक्षणा द्वारा विचार अर्थ किया गया है अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान को मोक्ष का साधनत्व और वेदान्त वाक्यों को विचार्यत्व पाया जाता है। इसी प्रकार यहां 'पठन्' शब्द का जहल्लक्षणा से ज्ञान सम्पादन करना अर्थ किया जाना चाहिये (तभी तो इतना महत्त्व है अन्यथा तोता रटन्त से तो इतना फल नहीं) फिर तो 'द्विजः पठन्, शूद्रः शृण्वन्' अर्थ हो ही सकता है।

सब से महत्त्व का यही श्लोक पूज्य मालवीयजी के ग्रन्थ में है। इसी न्याय से उनके दूसरे प्रमाण भी लगाये जा सकते हैं। कल्पना करता हूँ कि एक अनुभवी वृद्ध अन्त्यज वर्तमान शिक्षा-पद्धति से शिक्षित शिक्षकों के मध्य में रहने वाला एकान्त में विचार कर सकता है—हम अन्त्यज हैं, हिन्दू हैं, हिन्दू शास्त्र को मानना हमारा कर्त्तव्य है। जब शास्त्रों में हमारे लिये मन्त्र उच्चारण की आज्ञा नहीं है, मन्दिरों में जाने की आज्ञा नहीं है, स्पर्श करने का अधिकार नहीं है, तब हम लोग क्यों विरुद्धाचरण करें? क्या द्विजों को बड़े बड़े मंत्र-जाप से जो फल होता है, वह हम लोगों को बिना दीक्षा लिये राम राम जपने से नहीं हो सकता? द्विजों को षोडशोपचार से भगवान् विश्वनाथ के पूजन करने से जो फल होता है, वह

हम लोगों को भक्ति भाव से शिखर-दर्शन से नहीं हो सकता क्या ? हमारे पिता, पितामहों ने कभी यह बात नहीं चाही। द्विज लोग अपने कुओं पर अहिन्दुओं को चढ़ने देते हैं और हमको नहीं, यदि यह कार्य वे शास्त्र-विरुद्ध करते होंगे, तो वे प्रायश्चित्त के भागी होंगे। हमको अपना परलोक बनाना है। हम उन लोगों से क्यों लड़ाई करें, और ये लोग जो हम लोगों को फुसला कर नाना प्रकार के प्रलोभन दे रहे हैं, ईसाइयों के ऐसा ही प्रलोभन देने से हमारे बहुत से भाई हमसे विरुद्ध ईसाई आदि हो गये और अपने धर्म से गिर गये, इनका प्रलोभन उनसे भी कहीं भयङ्कर है। हमको शासन में विशेष अधिकार प्राप्त करके क्या करना है ? बड़े बड़े कालिजों में भर्ती होकर विद्याध्ययन कर के कौन सुख की आशा है, जिस विद्या को पढ़कर इन लोगों ने अपने पूर्वजों के आचार विचार ही छोड़ दिये हैं, ब्राह्मणों के घर में प्रातः काल वेदध्वनि के स्थान पर अंग्रेजी अखबार पढ़ा जाता है। हवन के स्थान पर सिगरेट का धुआं चलता है। शौच-स्नान की सभी क्रियाएँ नष्टप्राय हैं। पति-पत्नी, पिता-पुत्र में बात बात में लड़ाई है। गङ्गा-स्नान की क्या कथा है, घर में भी स्नान रोज नहीं होते। जब ये स्वयं गङ्गा-स्नान नहीं करते, तो हम लोगों को गंगा-स्नान के निमित्त साथ ले जायँ इसका इनको क्या अधिकार है ? जब कि स्वयं मूर्तिपूजा नित्य नहीं करते, घर में बैठ कर अनेक शास्त्रों का प्रमाण देते हुए मूर्ति-पूजा, श्राद्ध इत्यादि का खंडन करते हैं, तब हम लोगों को

अपने साथ विश्वनाथ में ले जाँय ऐसा इनको क्या अधिकार है? नहीं मालुम, किस अभिप्राय के साधन करने के लिये हम लोगों को अपना अनुगामी बना कर और चरण छुआ कर हुकूमत करते हैं। शास्त्र और लोक-मर्यादा के विरुद्ध हम लोगों के साथ भोजनादि क्रिया करते हैं। इनके पूर्वज कुत्ता जब कहीं घर में आ जाता था, तो घर को धोते थे, कपड़ा छूने पर कपड़ा धोया जाता था, अपने छूने पर स्नान होता था। अब कुत्ते को ये लोग साथ लेकर सोते हैं, मुख चूमते हैं, अपने साथ भोजन कराते हैं। अरे, अरे, कुत्तों का मांस खानेवाले हम लोग भी कुत्तों को अपने साथ नहीं खिलाते हैं। सो इन लोगों ने अपना तो पतन किया, अब हम लोगों का भी पतन कराना चाहते हैं। जिस प्रकार हमारे पूर्वजों का आचरण रहा है, उसी प्रकार का आचरण कर भगवान् का ध्यान और भगवन्नाम से हमारी कौन उन्नति नहीं हो सकती? जो हम उन लोगों की बातें सुनें। यदि हम लोगों की बड़ी उन्नति हुई भी तो, जैसे ये लोग हैं, वैसे ही हम हो जायंगे। तो यह होगा कि इस समय सायंकाल हम लोग स्त्री-पुरुष मिल कर बैठकर भगवान् के नाम के उच्चारण, गायन आदि से आनन्द प्राप्त कर लेते हैं। इन लोगों को तो अहर्निश हाय हाय करते ही व्यतीत होता है। कभी सुखकी नींद भी नहीं आती। जिसका यह परिणाम हो, उस विद्या को पढ़ कर हम क्या करेंगे? इत्यादि इत्यादि।

मैं आप से पूछता हूँ इस प्रकार के विचार वाले अन्त्यज

अपनी सच्ची पारलौकिक उन्नति कर सकते हैं, अथवा कौन्सिल, कालेज और मन्दिरों में प्रवेश कर ही उनकी उन्नति होगी, कृपया लिखियेगा।

आपका स्नेही—
गौरीशंकर गोयनका।

आज मिति ज्येष्ठ शुक्ल षष्ठी मंगलवार भक्तराज श्री जय दयाल गोयनकाजी लगभग साठ सत्तर आदमियों के साथ स्वर्गाश्रम से यहां पधारे हैं। आज ही रात की गाड़ी से ये लोग अपने अपने स्थान पर जा रहे हैं। लगभग दो ढाई मास स्वर्गाश्रम में बड़े जोरों से जो सत्संग, भजन, कीर्तन, व्याख्यान आदि उत्सव रहा, वह आज समाप्त हुआ। सायंकाल लगभग साढ़े छः बजे श्रीगौरीशंकर गोयनकाजी ने मुझसे कहा—मैंने सुना है कि श्रीभक्तराजजी गंगातट पर सायं सन्ध्या कर रहे हैं। मैं उनके समीप जाता हूँ, इतना कहकर श्रीगौरीशंकरजी गंगा-तट पर पहुंचे। वहां श्रीभक्तराजजी तथा उनकी मंडली के आठ दस और महानुभाव सायं सन्ध्या कर रहे थे। अपूर्व दृश्य था, उन लोगों की एकाग्रता देख कर चित्त मुग्ध हो गया।

सायं सन्ध्या से श्रीभक्तराजजी जैसे निवृत्त हुए, उसी समय श्रीगौरीशंकरजी ने उनको प्रणाम किया श्रीभक्तराज ने

भी यथोचित सन्मान कर श्रीगौरीशंकरजी को स्पर्श किया दोनों ओर का सम्मेलन देखने योग्य था।

श्रीगोयनकाजी—क्या आज ही जाने का विचार है?

श्रीभक्तराजजी—हम लोगों का तो यह अनुमान था कि आप चले गये होंगे? आपके रहने की खबर मालूम होती तो कुछ देर पहिले आ जाते।

गोयनकाजी—तब एक रात्रि ठहर जाइये, आपके सत्संग से विशेष लाभ होने की आशा है। आप इधर से गये थे, तब भी ठहरना नहीं हुआ। आपके इतने शीघ्र जाने से मेरा सन्तोष नहीं होता है।

श्रीभक्तराजजी—(प्रेम से हाथ पकड़ कर) अब तो तार दे चुका हूँ। बरेली में कई लोग स्टेशन पर आने वाले हैं। यदि आप मेरे पास इस विषय की सूचना पहले भेज देते, तो दो तीन दिन आपके पास रह जाता। अब परिवर्त्तन करना ठीक नहीं। अच्छा, अभी तो ट्रेन में तीन घंटे हैं। अपनी बातचीत हो सकती है।

श्रीगोयनकाजी—जैसी इच्छा, इस प्रकार बात करते करते पंचायती धर्मशाला में जिस कमरे में श्रीगोयनकाजी ठहरे थे। श्रीभक्तराजजी सहित जा पहुँचे। गोयनकाजी ने बड़े सत्कार से श्रीभक्तराजजी को बैठाया और बहुत प्रकार की बातें होती रहीं, जिनसे हमारे पाठकों का कोई सम्बन्ध नहीं है। श्रीगोयनकाजी ने भक्तराजजी से भोजन करने के लिये प्रार्थना की।

श्रीभक्तराजजी—भोजन गंगाजल में तैय्यार हुआ है न ?

श्रीगोयनकाजी—गंगाजल या कुआ जल, दोनों ही व्यवहार में आते हैं। टूंटी का जल तो चौके में जाता ही नहीं है।

श्रीभक्तराजजी—नहीं, इसमें भेद है। यदि कुएँ के जल से बना हुआ होगा तो और मुझे कई प्रश्न करने पड़ेंगे। किन्तु गंगाजल से बनी हुई रसोई में कुछ प्रष्टव्य नहीं है।

श्रीगोयनकाजी—मैं अभी निश्चय करता हूं, इतनी बात सुन कर एक आदमी ऊपर दौड़ा गया और वापिस आकर उसने कहा—भोजन गंगाजल से बना है। इतना सुनते ही दोनों सज्जन उठे और कपड़े उतारे और धोती मुकटा ओढ भोजनालय में पधारे साथ भोजन किया (साथ भोजन का तात्पर्य एकथाली में भोजन करना नहीं है) दोनों सज्जन अलग अलग क्यारी में अपने अलग अलग पात्र लेकर भोजन करने के लिए बैठे।

श्रीभक्तराजजी एक ही वार परोसवा लिया करते हैं। उन्होंने एक ही साग* उसमें भी केवल नमक और कोई मसाला

---

*श्रीगोयनकाजी की रसोई में कितने प्रकार के शाक, दाल आदि बने होंगे, पाठक स्वयं समझ सकते हैं। ऐसे स्थान पर इतना संयम !

'जितं सर्वं जिते रसे' [भागवत]

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः" [किरात]

"अवधराज सुरराज सिहाहीं। दशरथधन सुनि धनद लजाहीं॥
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चम्पकबागा॥"

श्रीभक्तराजजी की चर्य्या से इत्यादि उदाहरणों का स्मरण हो आता है।

—सम्पादक।

नहीं, फुलका और दूध यथारुचि ले लिया और भगवान को निवेदन तथा आपोर्शान कर दोनों का भोजन प्रारम्भ हुआ। भोजनादि से निवृत होकर नीचे कमरे में बैठे और कई प्रकार की बाते हुईं पश्चात् गोयनकाजी ने कहा कि अपने उन पत्रों को पं० श्रीरामशंकरजी मेहता छपाना चाहते हैं।

श्रीभक्तराजजी—ठीक है, छपवा सकते हैं।

श्रीगोयनकाजी—मेरे पिछले पत्र का उत्तर आपने जबानी दिया है, उसे आपके सामने एक कागज़ पर लिख लेता हूँ, जिससे छपाने में कोई गड़बड़ न हो जाय। तब श्रीगोयनका जी लिखते गये कि उपर्युक्त तृतीय पत्र का उत्तर प्राप्त नहीं हुआ था, श्रीमान् पूज्य परमहंसजी के यहाँ मिति वै० शु० १० को दोनों गोयनकाजी मिले थे, उस समय गौरीशंकर के पूछने पर श्रीजयदयालुजी ने कहा कि अछूतों की उन्नति के बारे में जो तुमने लिखा है, वैसा ही मैं मानता हूँ। और इतिहास-पुराण पढ़ने के बारे में शूद्रादि के अधिकार का निषेध श्रीपरमहंसजी बताते हैं मेरे को इतना शास्त्र का तो विशेष बोध नहीं है, किन्तु जहां तक मैंने देखा है, उससे उनका पुराण-इतिहास के पढ़ने में निषेध भी मिलता है और अधिकार भी मिलता है और समय को देखते हुए भी मेरी समझ में उनको अधि-कार देना चाहिये।

श्रीभक्तराजजी—कै बजे हैं भाई?

श्रीगोयनकाजी—समय निकट है, चलना चाहिये। इतना कह कर दोनों सज्जन उठे, श्रीगोयनकाजी को मोटर में बैठा

कर दोनों हरिद्वार स्टेशन पर पहुँचे। वहां ट्रेन आ चुकी थी। सब लोग उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। ट्रेन में असबाब रक्खा जा चुका था। भक्तराजजी को देख सब प्रसन्न हुए और प्लेटफार्म पर खड़े खड़े कई प्रकार की बातें होने लगीं। बात करते श्रीभक्तराजजी ने श्रीगोयनकाजी से कहा कि आपकी बात मान भी लें कि इतिहास-पुराण पढ़ने का शूद्र आदि को अधिकार नहीं है, तो समय को देखते हुए उनको इतिहास-पुराण पढ़ने की सुविधा करनी चाहिये न। यदि ये लोग हिन्दू शास्त्रों से परिचित हो जायँगे, फिर धर्मान्तर ग्रहण नहीं कर सकते और अपनी शक्ति प्रबल होगी।

श्रीगोयनकाजी—उनको इतिहास पुराण का ज्ञान हो, इसमें तो कुछ विवाद ही नहीं। विवाद तो केवल पढ़ने सुनने में है। आप पढ़ना भी स्वीकार करते हैं और मैं केवल सुनना ही। अच्छा, आप ही बताइये कि वे पढ़ाये किस प्रकार जांय? क्या हिन्दू-यूनिवर्सिटी में जिस प्रकार आज कल एक ही गुरु से एक ही साथ एक क्लास में ब्राह्मण बालकों के साथ शूद्र आदि के बालक पढ़ते हैं, आप इसको उचित समझते हैं?

श्रीभक्तराजजी—(बड़े ज़ोर से) सर्वथा अनुचित है। (धीरे से) किन्तु हमारी चले क्या।

श्रीगोयनकाजी—अजी! आजकल तो लोग बहुत आगे बढ़ गये हैं, अछूतों के हाथ का भोजनादि करने में भी बाधा नहीं रही। अब तो केवल लड़की देने लेने की कसर रह गई है।

श्रीभक्तराजजी—अजी ! कसर भी क्या है, महात्मा गांधी-जी ने एक चमार की लड़की को अपनी लड़की की तरह पाला और ब्राह्मण के साथ उसका विवाह कर दिया।

श्रीगोयनकाजी—क्या इसको आप उचित समझते हैं ?

श्रीभक्तराजजी—(बड़े ज़ोर से) बिलकुल अनुचित, बिलकुल अनुचित। इसके पश्चात् और कुछ लोग भक्तराजजी से वार्तालाप करना चाहते हैं, यह देख कर श्रीगोयनकाजी थोड़ा हट गये और श्रीभक्तराजजी दूसरे लोगों से बात चीत करने लगे। पश्चात् श्रीभक्तराजजी सब के साथ ट्रेन में बैठे और ट्रेन चल दी। तब श्रीभक्तराजजी ने कहा कि गौरी-शंकरजी कहां हैं ?

श्रीगोयनकाजी—ठीक पास ही में खड़े थे। उन्होंने बड़े प्रेम से भक्तराजजी के हाथ पकड़ लिये और कहा मैं यहीं हूँ और पांच सात कदम ट्रेन के साथ साथ भक्तराजजी का हाथ पकड़े हुए गये। उस समय वियोग का दृश्य और अर्द्धनेत्र देखने लायक थे। ट्रेन चली गई और श्रीगोयनकाजी अपने स्थान पर आ गये।



उपसंहार—

"पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्
स्यात् क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात्।
वणिग् जनः पण्यफलत्वमीयात्
जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात्॥"

[मूल रामायण को यदि ब्राह्मण पढ़े तो वह वाग्मी बन जाय, यदि क्षत्रिय इसका पाठ करे तो वह राजा हो जाय, यदि वैश्य पढ़े तो वह धन-धान-समृद्ध हो जाय, यदि शूद्र इसे सुने तो उपर्युक्त द्विजातियों के अतिरिक्त सब प्राणियों से श्रेष्ठ हो जाय।]

"वेदान्तगो ब्राह्मणः स्यात् क्षत्रियो विजयी भवेत्।
वैश्यो धनसमृद्धः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात्॥"

[विष्णुसहस्रनाम का श्रवण एवं कीर्त्तन करने वाला ब्राह्मण वेदवेदाङ्गपारग अर्थात् ज्ञानी हो जाता है, क्षत्रिय युद्ध में विजय पाता है, वैश्य धनधान्यसमृद्ध हो जाता है और इसका श्रवण करने वाला शूद्र सुखी होता है।]

इत्यादि वचनों में वर्त्तमान 'पठन्' 'शृणुयात्' 'परिकीर्त्तयेत्' पद ब्राह्मण आदि तीन वर्णों के साथ संयुत होकर चरितार्थ हैं, अतः सावकाश हैं। किन्तु

"श्रोतव्यमेतत् शूद्रेण नाऽध्येतव्यं कदाचन।"

इत्यादि निषेध वचन केवल शूद्र विषयक हैं। अतः

निरवकाश हैं। साधारण विद्यार्थी भी कह सकता है कि निरवकाश विधि प्रबल होती है।

दूसरी बात यह है कि यहां पर 'पठन्' पद अर्थवाद है। पूर्वमीमांसकों के मत में अर्थवाद अन्यतः सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ प्रमाण होता है। अत एव "यजमानः प्रस्तरः" इत्यादि वाक्य "गुणवादस्तु" (जै० सू०) शावर भाष्य आदि में गौणार्थक कहे गये हैं। उत्तरमीमांसकों ने भी प्रमाणान्तर विरुद्ध अर्थवाद को गौणार्थक ही माना हैं। अत एव

"अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥"

(ईशावा० ६)

इत्यादि मंत्र "कर्मणा पितृलोकः विद्यया देवलोकः" इत्यादि वचन बलसे सर्वथा गौणार्थक माना गया है। बहुत कहां तक कहें "जर्तिलयवाग्वा जुहुयात्, गवेधुकयवाग्वा वा जुहुयात्" यहां पर लिङ्-प्रत्यय से प्रतीयमान विधि भी "अनाहुतीर्वा एता जर्तिलाश्च" इस निषेध बल से "अजाक्षीरेण जुहुयात्" इस विधि की अर्थवाद होने से गौणार्थक ही मानी गयी है। अत एव संवर्ग विद्या के "अह हारे त्वा शूद्र" इस वचन में शूद्र सम्बोधन से शूद्र का विद्या में अधिकार प्रतीत होता है, तथापि "श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च" "त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्" इत्यादि विरोधी वचनों की सत्ता में अर्थवाद वाक्य में स्थित शूद्र पद का—"शुगस्य तदनादर-

श्रवणात् सूच्यते हि" इत्यादि सूत्र, भाष्य आदि में 'शुचा द्रवतीति शूद्रः' इस क्लिष्ट कल्पना से निर्वाह किया है। तात्पर्य यह है कि—"यत्परः शब्दःस शब्दार्थः" इस न्याय से आपाततः प्रतीयमान अर्थ भी दूसरे प्रमाणों से विरुद्ध होने पर बाधित हो जाता है। वक्ता के तात्पर्य से शब्दशक्ति द्वारा अप्रतीयमान अर्थ भी ग्राह्य होता है। जैसे "विषं भुंक्ष्व" आदि वाक्य में दर्शाया है। किञ्च, अर्थवाद वचन में स्थित 'पठन्' के फल श्रवण से लिङ्गबलात् विधि की कल्पना करेंगे। लेकिन—

"नाऽध्यापयेद् बुधः शूद्रं शास्त्रं व्याकरणादिकम्।
इतिहासं पुराणं च काव्यं नाटकमेव च॥"

[विद्वान् पुरुष को चाहिये कि वह शूद्र को व्याकरणादि शास्त्र, इतिहास, पुराण एवं काव्य-नाटक भी न पढ़ावे]

यहां से लेकर

"ततो वैवस्वतैर्नीत्वा पातितो नरकेष्वपि"

[यमराज के दूतों ने (शूद्रों के उपदेशक को) ले जाकर नरकों में गिरा दिया]

इत्यादि वचनों से अध्यापक की दुर्गति का वर्णन कर—

"तेनोपदिष्टो यः शूद्रः स भुक्त्वा नरकान् क्रमात्।
अनेकासु जनित्वा च कुत्सितास्वपि योनिषु।
गृध्रजन्माऽभवत पश्चात् गन्धमादनपर्वते॥

[उससे उपदिष्ट वह शूद्र भी क्रम से अनेक नरकों का भोग करके और अनेक कुत्सित योनियों में जन्म लेकर गन्धमादन पर्वत में गृध्र हुआ ।]

" श्रोतव्यमेतद् शूद्रेण नाऽध्येतव्यं कदाचन ।"

[शूद्र को पुराण-इतिहास सुनना ही चाहिये पढ़ना कदापि न चाहिये ।]

" श्रौतं स्मार्तं च वै कर्म प्रोक्तमस्मिन्नृपोत्तम ! ।
तस्माच्छूद्रैर्विना विप्रान् न श्रोतव्यं कदाचन ॥"

[हे महाराज, पुराण और इतिहास में बहुत-सा श्रौत और स्मार्त कर्म कहा गया है, इसलिये ब्राह्मणों के बिना शूद्रों को इसे न सुनना चाहिये अर्थात् ब्राह्मणों को बैठा कर ही सुनना चाहिये ।]

इत्यादि वचनों से अध्यापक तथा अध्येता—दोनों की दुर्गति का वर्णन किया है ।

कुछ लोगों का यह कहना—कि जिस ग्रन्थ में पठन की अनुज्ञा है, उसी में यदि निषेध होता तो 'पठन्' पद का संकोच होता—उचित नहीं है । कारण कि "कदाचन-स्तरीरसि नेन्द्रसश्चासि दाशुषे" इस मन्त्र भाग में स्थित वाक्य से इन्द्रोपस्थान प्रतीत होने पर भी 'ऐन्द्रया गार्हप-त्यमुपतिष्ठेत्' इस ब्राह्मणग्रन्थान्तर से उक्त न्याय से मीमां-सक लोग 'इन्द्र' पद को क्लिष्ट कल्पना द्वारा गार्हपत्यपरक मानते हैं । यदि कहो कि निम्नलिखित वाक्य में—

"अध्येतव्यं न चान्येन ब्राह्मणक्षत्रियौ विना।
श्रोतव्यमेतच्छूद्रेण नाऽध्येतव्यं कदाचन ॥"

[ब्राह्मण और क्षत्रिय को छोड़ कर औरों को इसका अध्ययन नहीं करना चाहिये, शूद्र को तो इसे सुनना ही चाहिये, वह इसका अध्ययन कदापि न करे।]

वैश्य के लिये भी अध्ययन निषिद्ध है, यह निषेध वेद विरुद्ध है। अतः सिद्ध होता है कि—ये सब निषेध वचन क्षेपक हैं, ऐसा कहना साहसमात्र है। कौन वचन क्षेपक हैं और कौन नहीं हैं इस विषय में विशेष विनिगमक न होने से सर्वत्र ही अविश्वास हो जायगा। आपाततः ज्ञातविरोध से किसी वचन को यदि क्षेपक मान लिया जाय तो—

"मां हि पार्थ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥"

[हे अर्जुन, जो कोई भी पापयोनि हों चाहे वे स्त्रियां हों चाहे वैश्य एवं शूद्र वे भी मेरी शरण में आकर परम गति को प्राप्त होते हैं।]

गीता के इस वचन में "यत्" "तत्" शब्द के अन्तःपाती होने से आपाततः वैश्य की पापयोनिता प्रतीत होती है। इसलिए

"तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह रमणीया योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा" (छा० ५।१०।७)

[इस संसार में जो लोग उत्तम आचरण वाले हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनि को—ब्राह्मण योनि को, क्षत्रिय योनि को और वैश्य योनि को प्राप्त होते हैं। जो निन्दित आचरण वाले हैं वे शीघ्र ही निन्दित योनि को—कुत्ते की योनि को, सूकर की योनि को और चाण्डाल-योनि को प्राप्त होते हैं।]

इस श्रुति से विरोध होने के कारण उक्त गीता का वचन भी क्षेपक सिद्ध हो जायगा। यदि कहो श्रुति के साथ अविरोध सम्पादन करने के लिए ही प्रयत्न करना चाहिये इसे क्षेपक कहना ठीक नहीं है, तो यहां भी "शरदि वैश्यः" इत्यादि श्रुति से वैश्य का वेदार्थ के भी ग्रहण-अनुष्ठान में अधिकार सिद्ध होता है। इतिहास-पुराण की तो बात ही क्या है? अतः पूर्वोक्त श्लोक में "ब्राह्मण-क्षत्रियौ विना" को वैश्य का भी उपलक्षक मान कर "ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यान् विना" ऐसा अर्थ करना चाहिये। 'अन्त्येन' पद का 'त्रैवर्णिकेतरेण' अर्थ करना उचित है। क्योंकि वैश्य में आर्थत्व और लौकिक शास्त्रीय उभय सामर्थ्य है। अतएव वैश्य के लिए गत्यन्तराभिधान न करके वाक्यशेष में "श्रोतव्यमेतच्छूद्रेण" इस वचन से शूद्र में शास्त्रीय सामर्थ्य न होने से गत्यन्तराभिधान संगत है। इसी लिये मिताक्षराकार ने भी कहा है—

"त्रैवर्णिकैरेतान्यध्येतव्यानीत्याह, अत एव सर्वत्र स्मृतिषु द्विजानामेव इज्याध्ययनदानानि।"

शूद्र के लिए—

" विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म्म कीर्त्यते ।" (याज्ञ०)

[ब्राह्मण की सेवा करना ही शूद्र का श्रेष्ठ कर्म कहा गया है ।]

" परिचर्यात्मकं कर्म्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् " (गी०)

[ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा करना शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है]

अत एव 'विष्णुसहस्रनाम' के " वेदान्तगो ब्राह्मणः स्यात् " श्लोक का व्याख्यान करते हुए श्रीमच्छङ्कर भगवत्पाद और चारों वैष्णवाचार्यों ने शूद्र का श्रवण में ही अधिकार बतलाया है। एवं धर्मसिन्धु—निर्णयसिन्धुकार आदि ने भी यही पक्ष सर्व-सम्मत है—ऐसा कहा है । इसलिए—

" गतो मार्गोऽनुगम्यते " [वा० रा०]

" महाजनो येन गतः स पन्थाः " [म० भा०]

इत्यादि उक्तियों के अनुसार शूद्रों का श्रवण में ही अधि-कार निर्णीत है, न कि पठन में । अतएव

"सुगतिमियाच्छ्रवणाच्च शूद्रयोनिः"

"श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः"

इत्यादि स्थलों में भी शूद्र के लिये श्रवण की ही अनुज्ञा है । कुछ महानुभाव " श्रावयेच्चतुरोवर्णान् " से वेद

श्रवण में शूद्रों का अधिकार बतलाते हैं, "कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः" से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्रों के बैठने का क्रम बतलाया गया है—कहते हैं। किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि परम ऋषि को यदि यही अभीष्ट होता तो वे 'उपवेशयेत्' पद का प्रयोग करते।

"अथ हाऽस्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्" (गो०)

[वेद को सुनते हुए शूद्र के कानों को शीशे और लाख से भर देना चाहिये]

"श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च" (ब्र० सू० १।३।३८)

[इसलिए भी ब्रह्मविद्या में शूद्र का अधिकार नहीं है कि स्मृति से उसके वेद-श्रवण, वेदाध्ययन वेदार्थ के ज्ञान और अनुष्ठान का निषेध है।]

"नाऽविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ" (मनु)

[वेद को न तो अस्पष्ट पढ़े और न शूद्र के समीप में पढ़े।]

इत्यादि अनेक वचन तथा अपशूद्राधिकरण स्पष्टतया शूद्रों के लिए वेदश्रवण का निषेध करते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह कैसे कहा जाय कि "श्रावयेच्चतुरो वर्णान्" वाक्य वेद-श्रवणविषयक है।

"स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।"

[वेद स्त्री, शूद्र और कुत्सित द्विजातियों के कर्णगोचर नहीं हो सकता ।]

इत्यादि श्रीमद्भागवत में भी त्रयी (वेद) के स्त्री, शूद्र आदि के कर्णगोचर न होने से

" इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् । "

[महामुनि वेदव्यासजी ने महाभारत की रचना की]

उनके श्रवणजन्य ज्ञान के लिये इतिहास आदि का निर्माण हुआ—ऐसा बतलाया है। अत एव स्वर्गारोहणपर्व के वाक्य में इतिहास आदि का स्पष्ट निर्देश कर व्यास भगवान् ने स्वयं ही पूर्वापर की सङ्गति लगा दी है । इससे सिद्ध हुआ कि जो लोग इतिहास-पुराण के अध्ययन में शूद्रादि के अधिकार को सिद्ध कर उनके लिए प्रणव सहित अष्टाक्षरादि मन्त्रों की दीक्षा—

"एतत्प्रोक्तं द्विजातीनां स्त्रीशूद्रेषु च यच्छृणु ।
द्वादशाष्टाक्षरौ मन्त्रौ तेषां प्रोक्तौ महात्मनाम् ।।
तस्मात् सर्वप्रदो मन्त्रः सोऽयं पञ्चाक्षरः स्मृतः ।
स्त्रीभिः शूद्रैश्च सङ्कीर्णैर्धार्यते मुक्तिकाङ्क्षिभिः ।।
अन्त्यजो वाऽधमो वाऽपि मूर्खो वा पण्डितोऽपि वा ।
पञ्चाक्षरजपे निष्ठो मुच्यते पापपञ्जरात् ।।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रास्तथेतरे ।
तस्याधिकारिणः सर्वे सत्त्वशीलगुणा यदि ।।"

[ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के कृत्यों का विधान यह कहा। अब स्त्री और शूद्रों के विषय में जो विधान है, उसे सुनो—द्वादशाक्षर और अष्टाक्षर ये दो मन्त्र महात्मा लोगों ने उनके लिए कहे हैं।

यह पञ्चाक्षर मंत्र सर्वप्रद कहा गया है, इसलिए मुक्ति चाहने वाले स्त्री, शूद्र एवं संकीर्णजातिवाले इसे धारण करते हैं। अन्त्यज (चाण्डाल) हो चाहे अधम (नीच) हो, मूर्ख हो चाहे पण्डित हो, पञ्चाक्षर जप में निष्ठा रखनेवाला पापसमूह से मुक्त हो जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्रियां, शूद्र तथा अन्त्यज पञ्चाक्षर मन्त्र के सभी अधिकारी हैं, यदि उनमें आस्तिकता, शील आदि गुण हों।]

इत्यादि श्लोकों से सिद्ध करते हैं। किन्तु यह भी पूर्वापर विचार न करने का ही फल है।

"सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति।" (नृ० ता०)

[विद्वान् लोग गायत्री, ॐकार और वेद का स्त्री-शूद्र के लिए निषेध करते हैं।]

इस श्रुति से प्रणव का निषेध है। अतः

" विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम् " (जै० सू०)

जैमिनीय न्याय से जैसे—

" औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या।"

यह कल्प वाक्य " औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत् " इस श्रुति से विरोध होने पर अनपेक्ष होता है। वैसे ही ' नृसिंहतापनी ' की श्रुति से शूद्र के लिये प्रणव के उपदेश का निषेध होने पर प्रणवरहित मन्त्रों के उपदेश में ही उपर्युक्त श्लोकों का तात्पर्य समझना चाहिये।

पञ्चरात्र में नारायण के अष्टाक्षर मन्त्र के अधिकार में कहा है—

"न वेदः प्रणवं त्यक्त्वा मन्त्रो वेदसमुच्छ्रितः।
न मन्त्रे चाधिकारोऽस्ति शूद्राणां नियमः परः॥

[प्रणव (ओंकार) वेद है। मन्त्र वेद से उन्नत होता है मन्त्र में शूद्रों का अधिकार नहीं है।]

नारद पञ्चरात्र में भी—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां पञ्चरात्रं विधीयते।
शूद्रादीनां न तच्छ्रोत्रपदवीमधिगच्छति॥

[ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिए पञ्चरात्र का विधान हैं, किन्तु शूद्र आदि के कर्णगोचर वह नहीं हो सकता है]

व्यासस्मृति में भी—

" ब्राह्मणक्षत्रियविशस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तधर्मयोग्यास्तु नेतरे॥
शूद्रो वर्णश्चतुर्थस्तु वर्णत्वाद् धर्ममर्हति।
वेदमन्त्रस्वधास्वाहावषट्कारादिभिर्विना॥"

(व्या० स्मृ० १।५,६)

"स्वाहाप्रणवसंयुक्तं शूद्रे मन्त्रं ददद् द्विजः।
शूद्रो निरयमाप्नोति ब्राह्मणः शूद्रतामियात्॥"

[ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण द्विजाति हैं, ये ही श्रौत, स्मार्त और पुराणप्रतिपादित धर्मानुष्ठान के योग्य हैं और नहीं हैं। शूद्र चौथा वर्ण है, वह भी वर्ण होने के कारण धर्मानुष्ठान के योग्य है ; परन्तु उसे वेद-मन्त्र, स्वधा, स्वाहा और वषट्कार आदि के विना धर्म करना चाहिये।]

[स्वाहा और ओंकर से युक्त मन्त्र को शूद्रों के लिए देता हुआ ब्राह्मण शूद्र हो जाता है और शूद्र नरकगामी होता है]

व्याससंहिता मे भी कहा है—

"शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः।
स्त्रीशूद्रयोरमुं दद्यात् मन्त्रं प्रणववर्जितम्॥
प्रणवोच्चारणाद्धोमात् शालिग्रामशिलार्चनात्।
ब्राह्मणीगमनाच्चैव शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत्॥"

[इसी प्रकार मन्त्र के विना शूद्रों का भी संस्कार करना चाहिये। स्त्री और शूद्र को भी विना प्रणव के इस मन्त्र को देना चाहिये। ओंकार के उच्चारण से, होम करने से, शालिग्राम की पूजा करने से एवं ब्राह्मणी के गमन से शूद्र चाण्डाल हो जाता है]

इन्हीं हेतुओं से शूद्र तथा अन्त्यजों के प्रकरण में पञ्चाक्षर ही मन्त्र कहा है।

कुछ लोग—

"मन्त्राणां परमो मन्त्रस्तथा शैवः षडक्षरः।
एष पञ्चाक्षरो मन्त्रो जप्तॄणां मुक्तिदायकः॥"

[षडक्षर शैव मन्त्र सब मन्त्रों में श्रेष्ठ है, यह पञ्चाक्षर मन्त्र जपने वाले को मुक्ति देने वाला है]

इस वचन से षडक्षर की ही संज्ञा पञ्चाक्षर है—ऐसा कहते हैं। सो उचित नहीं है।

क्योंकि त्रैवर्णिकेतर के लिए—

" तस्मात्सर्वप्रदो मन्त्रः सोऽयं पञ्चाक्षरः स्मृतः ।
स्त्रीभिः शूद्रैश्च संकीर्णैर्धार्य्यते मुक्तिकाङ्क्षिभिः ॥"

[यह पञ्चाक्षर मन्त्र सब मनोवाञ्छितों को देने वाला है। अतः मुक्ति की आकाङ्क्षा करने वाले स्त्री, शूद्र एवं संकीर्ण जातियों को इसे धारण करना चाहिये।]

इत्यादि प्रमाण से पञ्चाक्षर ही के जप का विधान है। पूर्व श्लोक में पञ्चाक्षर को ही षडक्षर कहना अपने अपने अधिकारानुसार जपने से दोनों का तुल्य फल है—यह सूचित करने के लिए है। अन्यथा षडक्षर की ही अनुवृत्ति उचित थी 'पञ्चाक्षर' की उक्ति व्यर्थ होती। शास्त्रान्तर का विरोध भी पहले कह ही चुके हैं।

हारीत स्मृति में भी सभी मन्त्रों के विधान तथा अधिकारी का प्रश्न उपस्थित होने पर कहा है—

पञ्चसंस्कारसम्पन्नाः श्रद्धावन्तोऽनसूयकाः ।
भक्त्या परमया विष्टा युक्तास्तस्याधिकारिणः ॥

[पांच संस्कारों से युक्त श्रद्धालु किसी की ईर्ष्या न करने वाले परम भक्त इस मन्त्र के अधिकारी कहे गये हैं।]

यहां पञ्च संस्कार सम्पन्न को ही दीक्षा का अधिकारी बतलाया है। शूद्र आदि के उक्त उपनयन आदि संस्कार नहीं होते, अतः उसे दीक्षा में अधिकार ही नहीं है। यदि कहिये कि ऐसी परिस्थिति में उक्त वचन व्यर्थ होगा। सो बात नहीं है क्योंकि गौतम स्मृति में—

"अनुज्ञातोऽस्य नमस्कारान्तो मन्त्रः"

[शूद्र के लिए नमस्कारान्त मन्त्र को जपने की अनुज्ञा हैं]

कहा गया है। अतः शूद्र का शिवाय नमः, श्रीरामाय नमः, इत्यादि मन्त्र में अधिकार है ही। यदि कहिये—अनुज्ञा अप्राप्त में होती हैं। 'शिवाय नमः' आदि मन्त्र का अधिकार तो शूद्रों को प्राप्त ही है।

"वध्यो राज्ञा स वै शूद्रो जपहोमपरस्तु यः।"

[राजा को जप-होम-परायण शूद्र का वध कर देना चाहिये]

इस अत्रि-स्मृति से जपमात्र शूद्र के लिये निषिद्ध था। उक्त वाक्य से नमस्कारान्त मन्त्र में उसका अधिकार प्राप्त होता है, अतः उक्त वाक्य व्यर्थ नहीं है। यदि इस विषय में अधिक जानने की इच्छा हो, तो म० म० पण्डित पञ्चानन तर्करत्नजी ने इस विषय में बहुत विस्तार से विवेचन किया है, पाठक विशेष वहां से अवगम कर सकते हैं।

पूर्व विवेचन से सिद्ध हुआ कि प्रणवादि सहित मन्त्रों की दीक्षा में शूद्र आदि का अधिकार नहीं है। कुछ लोगों का यह कहना कि ये शास्त्र पक्षपात पूर्ण हैं, उनका अज्ञान है। शास्त्र सबके लिए हित उपदेश देते हैं। जिसके लिए जो धर्म उपयुक्त होता उसके प्रति उस धर्म का विधान करते हैं, जो अनिष्टकर है, उसका निषेध करते हैं। जैसे ब्राह्मण के लिए सुरापान अनिष्टकर है, उसी प्रकार शूद्र के लिए वेदाक्षरविचार भी अति अनिष्टकारक है। दोनों के प्रति दोनों का पृथक् पृथक् निषेध है। इसी प्रकार जो और भी तत् तत् वर्णों के लिए अनिष्ट कृत्य हैं, उनका भी निषेध है। धर्म-अधर्म में शास्त्र के सिवा अन्य प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं है। प्राणियों के सुख-दुःख तारतम्य से यद्यपि कोई अदृष्ट और उसका फल अनुमित हो जाता है, तथापि हान अनुष्ठान के उपयोगी धर्म अधर्म का विशेष रूप से ज्ञान नहीं हो सकता। अतः भगवान् ने कहा है—

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।"

[इसलिए कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के निर्धारण में तुम्हारे लिए शास्त्र ही प्रमाण है]

"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥"

[जो शास्त्र की विधि को छोड़कर मनमाने वर्त्ताव करता है वह न तो सिद्धि पाता है, न सुख और न परम गति]

यहां शास्त्र पद से श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास आदि समस्त अभिप्रेत है।

जैसे माता ईख आदि बच्चे के हाथ से छीन लेती है, इस भय से कि कहीं आंख आदि में चुभा न दे। और भोज्य पदार्थों को बच्चे के हाथ में दे देती है। ऐसा करने से कोई माता को द्वेषी या अनिष्टेच्छु नहीं कह सकता है।

इसी प्रकार हमारे तत्त्वज्ञ महर्षियों ने इतिहास-पुराण के श्रवण मात्र से ही शूद्रों का कल्याण कहा है, वेद के पठन-श्रवण से परम अकल्याण समझा है।

धर्म्म अधर्म का देश, काल, आदि भेद से संकोच-विकास सर्वज्ञ महर्षियों द्वारा निर्मित धर्मशास्त्रों का अनुशीलन कर उनसे निर्दिष्ट मार्ग से ही किया जा सकता है। ऐसा करने से ही अपना और अपने अनुयायियों का कल्याण हो सकता है, अन्यथा स्वकपोल कल्पित मनमानी धर्मव्यवस्थाओं से दोनों का नाश हुए बिना नहीं रहता।

कुछ लोग कहते हैं—इस समय राजनीति में हमारी अवनति हो रही है। विधर्मी लोग अन्त्यजों को प्रलोभन दे कर अपना रहे हैं। इससे दिन पर दिन हमारी संख्या का ह्रास होता जा रहा है इसलिए अछूतों को मन्दिर प्रवेश आदि में अधिकार देकर आधुनिक विपत्ति से बचना चाहिये आदि आदि।

उन महानुभावों से कोई पूछे कि आप उपर्युक्त विषयों में शूद्रों (अछूतों) के लिए शास्त्रमर्यादित अधिकार चाहते हैं या अमर्यादित। यदि अमर्यादित अधिकार देना आपको

पसन्द है तो भोजन, पान, कन्यादान, प्रतिग्रह आदि तक उनके साथ हो जाने से सांकर्य्य हो जायगा, विधर्मी सधर्मी भेद कल्पना ही व्यर्थ हो जायगी। इससे तो यह अच्छा हो कि हिन्दुत्व को ही छोड़ कर अन्य बहुसंख्यक सम्प्रदाय स्वीकार कर लिया जाय। संख्या की अधिक वृद्धि होने से राजनीतिक अवनति भी उन्नति में परिणत हो जायगी। यदि कहिये शास्त्रमर्यादित अधिकार देकर हम अछूतों को अपनाना चाहते हैं तो—

"चाण्डालेन तु संस्पृष्टं तत्तोयं पिबति द्विजः।
कृच्छ्रपादेन शुद्धयेत आपस्तम्बोऽब्रवीन्मुनिः॥"
"चाण्डालं पतितं म्लेच्छं मद्यभाण्डं रजस्वलाम्।
द्विजः स्पृष्ट्वा न भुञ्जीत॥"
"शूद्राय चोपदिष्टारं द्विजं चाण्डालवत्त्यजेत्।
शूद्रं चाक्षरसंयुक्तं दूरतः परिवर्जयेत्॥"

[चाण्डाल से छुए हुए जल को यदि कोई द्विजाति पीवे, तो चौथाई कृच्छ्रव्रत से उसकी शुद्धि होती है—ऐसा आपस्तम्ब मुनि ने कहा है। चाण्डाल को, पतित को, म्लेच्छ को, शराब के वर्तन को और रजस्वला स्त्री को छू कर द्विजाति भोजन न करे। शूद्र को उपदेश देने वाले द्विजाति का चाण्डाल के समान बहिष्कार करना चाहिये और अक्षर युक्त (पठित) शूद्र को दूर से छोड़ दे।]

इत्यादि अनेक वचनों से उनके स्पर्श आदि का निषेध किया है। 'मन्दिर प्रवेश निर्णय' नामक पुस्तक में इस

विषय में विशेष विवेचन किया गया है। विशेष वहीं से जानना चाहिये। सभी स्मृतियों में स्पृश्यास्पृश्य विवेचन आया है।

'कलौ पाराशरस्मृतिः' वाक्य के अनुसार कलि में पराशरस्मृति का प्राधान्य है। उसमें लिखा है—

श्वपाकं वापि चाण्डालं विप्रः सम्भाषते यदि।
द्विजसम्भाषणं कुर्यात् सावित्रीं तु सकृज्जपेत्॥

[यदि ब्राह्मण श्वपच अथवा चाण्डाल के साथ भाषण करे, तो साङ्ग वेद पढ़े हुए ब्राह्मण के साथ वार्तालाप करे अथवा एक वार गायत्री का जप करे, तव उसकी शुद्धि होती है।] इत्यादि २। विस्तारभय से यहां सभी वचनों का उद्धरण नहीं किया गया है।

अव सोचने की वात यह है कि जिसके दर्शन सम्भाषण आदि से प्रायश्चित करना पड़ता है, उसके लिए मन्दिर प्रवेश का अधिकार कैसे सम्भव हो सकता है?

महामना श्रीमालवीयजी ने निम्नलिखित मदनरत्न आदि के—

कल्याणे तीर्थयात्रायां राष्ट्रक्षोभे च सम्भ्रमे।
देवोत्सवे च दारिद्र्ये स्पर्शदोषो न विद्यते॥
देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते॥

[विवाहादि मंगल कामों में, तीर्थ—यात्रा में, राष्ट्र—विप्लव में, भय उपस्थित होने पर, देवताओं के उत्सव में, दरिद्रता

में स्पर्शदोष नहीं होता है। देवयात्रा में, विवाह में, यज्ञ में सभी उत्सवों में छूआछूत का दोष नहीं होता]

इत्यादि श्लोकों को उद्धृत कर अछूतों को मन्दिरप्रवेश आदि का अधिकार देने की चेष्टा की है। किन्तु ये श्लोक उनके मन्दिर प्रवेशाधिकार के साधक नहीं हो सकते। क्योंकि इन श्लोकों का तात्पर्य—मार्ग में देवयात्रा में, कृष्णजन्म आदि उत्सवों में किसी कारण से जनसंकुल में अस्पृश्य-स्पर्श हो जाय तो तत्कालीन—अस्पृश्य-स्पर्श के दोष के अपवाद में ही है। अन्यथा पूर्वोक्त बड़े २ प्रायश्चित्तों का विधान व्यर्थ हो जायगा। मन्दिर आदि में काष्ठ और पाषाण से निर्मित मूर्तियां ईश्वर-स्वरूप हैं। इस विषय में सिवाय शास्त्र के दूसरा कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए शास्त्र को प्रमाण मानने वाले के लिए ही उक्त मूर्ति का पूजन, वन्दन उचित है। शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि प्रतिष्ठा, आवाहन आदि द्वारा मूर्ति के रूप से ईश्वर ही पूज्य होता है। यदि यह ठीक है, तो उसी शास्त्र की आज्ञा के अनुसार स्पृश्य का प्रवेश अस्पृश्य का अप्रवेश ठीक है। साधारण गृह में भी यदि शूद्र प्रविष्ट हो जाय तो पाराशरजी ने मिट्टी के वर्त्तनों का त्याग गोवर के जल का छिड़काव आदि शुद्धि के उपाय कहे हैं—

"गृहस्याऽभ्यन्तरं गच्छेत् चाण्डालो यदि कस्यचित्।
तमगाराद्विनिर्वास्य मृद्भाण्डं तु विसर्जयेत् ॥
गोमयेन तु संमिश्रैर्जलैः प्रोक्षेद् गृहं तथा।"

[यदि किसी द्विजाति के घर में चाण्डाल चला जाय तो उसे घर से बाहर निकाल कर मिट्टी के वर्तनों को फेंक दे, गोबर के जल से घर में छिड़काव करे, तब घर शुद्ध होता है।]

ऐसी परिस्थिति में चाण्डालों का मन्दिर-प्रवेश कहां तक सम्भव है, यह बात साधारण पुरुष की बुद्धि में भी आ सकती है।

जब कि जैसे ब्राह्मण आदि को मूर्ति के दर्शन-पूजन से जो पुण्यलाभ होता है वही पुण्यलाभ अस्पृश्यों को मन्दिर या मन्दिर के शिखरदर्शन तथा प्रणाम से होना शास्त्र हीं शतशः कहते हैं।

शैवागम में लिखा है—

"प्रतिलोमान्त्यजातीनां स्तूपं दृष्ट्वा समाचरेत्।"

[प्रतिलोम संकर, अन्त्यज आदि के लिए मन्दिर के शिखर को देखने से ही देवदर्शन का फल होता है]

"दर्शनं गेहचूड़ाया दर्शनं गोपुरस्य च।
अन्त्यजानां तथान्त्यानां विज्ञेयं देवदर्शनम्॥"

[मन्दिर के शिखर का दर्शन अथवा गोपुर का दर्शन ही अस्पृश्य अन्त्यज जातियों के लिये देवदर्शन समझना चाहिये]

तब उन्हें मन्दिरप्रवेश में अधिकार दिया जाय ऐसा शास्त्रविरुद्ध निष्फल वितण्डा उठाने की आवश्यकता ही क्या है?

बहुमत का आजकल अधिक प्रचार हो गया है। अन्य विषयों में भले ही इसका आदर हो, किन्तु धर्म के विषय में बहुमत का आदर नहीं हो सकता। वहां तो जो शास्त्र की आज्ञा होगी, वही मान्य है।

"एकोऽपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
सोऽपि ज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥"

[एक भी वेदज्ञ ब्राह्मण जिसे धर्म कहे, वही परम धर्म है, किन्तु शास्त्र के रहस्य को न जाननेवाले लाखों जनों द्वारा कहा गया भी धर्म नहीं है।]

इसी लिए भगवान् ने कहा है—

"स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तिता।
विपर्यासे तु दोषः स्यादुभयोरेष निर्णयः॥"

[अपने अपने अधिकार के कर्म में स्थित रहना गुण कहा गया है, इससे विपरीत मार्ग में दोष होता है, यही दोनों का निर्णय है]

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।"

[अपने २ कर्म में संलग्न पुरुष सिद्धि पाता है]

"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥"

[अपने सहज कर्म से भगवान् को प्रसन्न कर (पूजकर) मनुष्य सिद्धि पाते हैं]

"आत्मीये संस्थितो धर्मे शूद्रोऽपि स्वर्गमश्नुते ।"

[अपने स्वाभाविक धर्म में स्थित शूद्र भी स्वर्ग भोगता है]

इत्यादि ।

तात्पर्य यह है कि शास्त्र माता-पिता की अपेक्षा जनों के कहीं अधिक हितचिन्तक हैं। जिस पुरुष का जिस कर्म में कल्याण देखते हैं, उसके लिए उसी का उपदेश करते हैं। शास्त्रों का किसी व्यक्तिविशेष पर राग या किसी पर द्वेष कदापि सम्भव नहीं हो सकता। यदि लोक में सभी कामों के सभी अधिकारी हो जाँय, तो बड़ा विप्लव उपस्थित हो जाय। इसी लिए किसी न किसी रूप में मर्यादा सभी देशों, समाजों में प्रचलित है। अतः शास्त्रानुसार ही प्राणी का उद्धार उद्धार कहा जा सकता है। उससे विपरीत उद्धार नहीं है, बल्कि पातन है। स्वधर्म में स्थापन तथा पर-धर्म से हटाने से ही दोनों का कल्याण होता है। अतः जो ऐसा नहीं करते राजा उनका शासन करता है। अत्रिस्मृति में कहा गया है—

" ये व्यपेताः स्वधर्माच्च परधर्मे व्यवस्थिताः ।
तेषां शान्तिकरो राजा स्वर्गे लोके महीयते ॥"

[जो अपने धर्म से भ्रष्ट हैं और परधर्म [दूसरे के धर्म] में आरूढ़ हैं, उनका शमन करने वाला राजा परलोक में पूजित होता है।]

अत एव परमकारुणिक राजा रामचन्द्रजी ने परधर्म में

स्थित शम्बूक को लोकहित तथा उसके हित की दृष्टि से मार डाला था। अहा ! करुणामय भगवान् की कितनी अद्भुत करुणा है, और कैसी अनुपम शास्त्र-मर्यादा की परवशता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है—

"यद्पि प्रथम दुःख पावई रोवय बाल अधीर।
व्याधिनाशहित जननी गनै न सो शिशु पीर॥"

इसलिए सिद्ध हुआ कि यह शास्त्रीय व्यवस्था सभी के ऐहिक और आमुष्मिक इष्ट-प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारार्थ ही है। न कि रागद्वेष के कारण। अतएव मुख, हाथ, पाँव आदि में भी पृथक् पृथक् कार्य व्यवस्थापित हैं। तभी शरीर का स्वास्थ्य है। उच्च एक ही अङ्ग का कार्य करने के लिए सभी अङ्ग उतारू हो जाँय और अपना अपना काम छोड़ दें, तो शरीर ही नष्ट हो जाय। लेकिन इन अङ्गों का प्रेम परस्पर अपूर्व है, भोजन मुख ही करता है, तो भी पालन पाँव आदि सभी अङ्गों का होता है। पैर को कहीं कुछ आपत्ति आती है तो आंख, हाथ आदि समस्त अङ्ग रक्षा के लिए उद्यत हो जाते हैं। हमारी समझ में तो यही वर्णाश्रमियों का प्रेमपुरस्सर पारस्परिक अद्भुत सङ्गठन है। यहां विराट् भगवान् के पाद-स्थानीय शूद्र उतना ही अपेक्षित है, जितना कि मुखस्थानीय ब्राह्मण। लेकिन यह अपेक्षा व्यवस्था से ही है।

बहुत क्या कहा जाय, स्वधर्म में स्थित चाण्डाल का भी कल्याण होता है, स्वधर्मविमुख ब्राह्मण का भी नरक होता

है। इसी लिए बन्धुबान्धववधरूप अतिक्रूर क्षात्रधर्म से अर्जुन को विमुख होते देख भगवान् ने कहा—

"अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥"(गी० २।३३)

[हे अर्जुन! यदि तुम इस धर्मयुक्त संग्राम को नहीं करोगे, तो अपने धर्म और कीर्ति को गवां कर पाप के भाजन बनोगे।]

यद्यपि वर्ण, आश्रम आदि धर्मों का विस्तार से माहात्म्य सहित वर्णन कई लाख श्लोकों में है। श्रद्धालुओं को चाहिये कि धर्मशास्त्र, पुराण आदि द्वारा विद्वान् ब्राह्मणों से उसका ज्ञान प्राप्त करें। किन्तु यहां पर केवल उन धर्मों का वर्णन किया जाता है, जिनमें समस्त मनुष्यजाति मात्र का समान अधिकार है।

"अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥"
(या० स्मृ० अ० १२२)

[अहिंसा=मन, वचन और कर्म से प्राणीमात्र को पीड़ा न पहुंचाना। सत्य=प्राणीमात्र को पीड़ा न पहुंचाने वाला यथार्थ वचन। अस्तेय=अनधिकार वस्तु को प्रत्यक्ष या परोक्ष में काम में नहीं लाना अर्थात् न दी हुई वस्तु को ग्रहण न करना। शौच=बाहर की सफाई और अन्तःकरण की स्वच्छता। इन्द्रियनिग्रह=ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों को

योगशास्त्र के अनुकूल नियत विषय में प्रवृत्त करना। दान= यथाशक्ति अन्न, जल आदि के दान से प्राणियों के कष्ट को दूर करना। दम=अपने अन्तःकरण को अपने वश में करना। दया=आपत्तिग्रस्त प्राणी की रक्षा करना। क्षान्ति= अपकार करने पर भी अपकारी के प्रति चित्त में विकार न लाना। ये सब पुरुषों के—ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्यन्त तक के—धर्म के साधन है।]

उक्त सामान्य धर्म में और ईश्वर-भक्ति में सभी का समान अधिकार है। अहिंसा आदि प्रत्येक का माहात्म्य शास्त्रों में खूब विस्तार से वर्णित है। इनका विशेष विस्तार न कर इस समय केवल ज्ञान और भक्ति के विषय में कुछ कहा जाता है—

जिसकी अद्भुत रचना का मन से भी चिन्तन नहीं हो सकता, जिस निमित्त और उपादान रूप अपरोक्ष ज्ञानवान् की अद्भुत शक्तियों से यह जगत् निर्मित हुआ है उन अचिन्त्य, अनन्त अघटितघटनापटीयसी शक्तियों से सम्पन्न एवं सकलकल्याणगुणगणों के एकमात्र निलय भगवान् हैं। भगवान की ही इच्छा से विश्व की अनन्त वस्तुओं में से एक नगण्य तृण में भी कितनी शक्तियां हैं? उसके सम्प्रयोग और विप्रयोगों से कितने लाभ और हानियां आविर्भूत और अभिभूत होती हैं। एक वट-बीज में अनन्त कोटि विशाल वट-वृक्षों को आविर्भूत करने की अनन्त शक्तियों का कैसा सुन्दर सामञ्जस्य है। इसी एक छोटे से विषय को लेकर उसकी शक्ति की इयत्ता का अन्वय-व्यतिरेक से निर्णय करने

के लिए प्रौढ़ातिप्रौढ़ तार्किक भी समर्थ नहीं हो सकते, तो फिर, उस अचिन्त्य अद्भुत वैभवशाली—जिसके कि रोम के विवरों में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड द्व्यणुक और त्रिसरेणु के समान घूमते हैं, मन और वचन के अगोचर तथा कल्पनातीत परमेश्वर के विषय में तो कहना ही क्या है? अत एव ब्रह्मा ने कहा है—

> क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू-
> संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।
> क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या-
> वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥
> (भा० १० । १४ । ११)

[प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी इन आवरणों से वेष्टित ब्रह्माण्डरूप घड़े में अपने विलस्त से सात विलस्त शरीर वाला मैं (ब्रह्मा) गरीब कहां? और आपकी महिमा कहां? इस प्रकार के असंख्य ब्रह्माण्डरूपी परमाणु के घूमने (आने जाने) के लिए खिड़की रूप रोमविवर वाले आपकी महिमा का क्या कहना है। हे प्रभो! आप और मेरे बीच में बड़ा ही अन्तर है।]

> गूलर फल समान तव माया । फल ब्रह्माण्ड अनेक निकाया ॥
> तेहि फल भक्षक काल कराला । तव डर डरत रहत सोऊ काला ॥

किन्तु इतना होने पर भी वह तटस्थ नहीं है, चराचर समस्त प्रपञ्च की सत्ता एवं स्फूर्ति उसी से होने के कारण वह सब का प्रत्यगात्मा है। कारण रूप से एवं सर्वत्र सद्-रूप से उपलब्ध होने से समस्त प्रपञ्च का आन्तर, बाह्य और मध्य वही है। किं बहुना—जैसे दर्पण में प्रतीयमान

प्रतिविम्ब दर्पण के ठोस होने के कारण दर्पण से अतिरिक्त नहीं है, उसी प्रकार देश, काल, प्रमाता आदि चैतन्य, निरवयव, निरवकाश चितितत्त्व द्वारा कवलित होने से उससे भिन्न नहीं हैं। इसी लिए तो

"नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा
प्राणेन्द्रियाणि च यथाऽनलमर्चिपः स्वाः।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयाऽऽत्ममूल-
मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः॥"
(भा० ११ । ३ । ३६)

[न वहां मन की पहुंच है, न वाणी की, न चक्षु की, बुद्धि, प्राण, अन्यान्य इन्द्रियां भी, उसे विषय नहीं कर सकती हैं, जैसे अग्नि की अंशरूप चिनगारियां अग्नि को प्रकाशित नहीं कर सकती हैं। शब्द भी अर्थात् आत्मा में प्रमाण है, साक्षात् नहीं, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि शब्द ने स्वबोधकता का स्वयं निषेध किया है। यदि कहिये कि जब शब्द भी ब्रह्म में प्रमाण नहीं है तो ब्रह्म सिद्ध कैसे होगा अर्थात् शून्यवाद ही सिद्ध हुआ; तब कहते हैं जिस (सद्रूप ब्रह्म) के विना असत् (निषेध) की भी सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि निषेध सावधिक होता है।]

"बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥"
(गी० १३ । १५)

[वह चराचर भूतों के बाहर और भीतर है। सूक्ष्म होने के कारण अज्ञेय है। दूर भी है और समीप में भी है। अर्थात्

आत्मज्ञानियों के लिए निकट है और देहाभिमानियों के लिए दूर।]

'मन समेत जँह जात न वानी'
'जेहि जाने जग जात हेराई' इत्यादि कहा है।

भगवान् की दृष्टि में सभी प्राणी समान हैं। चराचर सभी प्राणियों से भगवान् का समानरूप से सम्बन्ध है। वे नित्य पूत हैं। किसी के दोष से संस्पृष्ट नहीं होते। इस वर्तमान सृष्टि का आदि विकार आकाश भी भगवान् के समान सभी चराचर से संस्पृष्ट होता हुआ भी किसी के स्पर्श-दोष से किञ्चित् भी सम्बद्ध नहीं होता। द्वितीय विकार वायु स्पर्शदोष से किञ्चित् दूषित होता है, तभी तो उसमें प्राणियों को सुगन्धि और दुर्गन्धि का अनुभव होता है। तृतीय विकार अग्नि स्पर्शदोष से अपेक्षाकृत अधिक दूषित होती है, इसी लिए श्मशान की अग्नि का ग्रहण शास्त्र में विशेष रूप से वर्जित है। इस प्रकार संसर्गजन्य दोष अधिक अधिक होते गये हैं।

इस जीवन का चरम ध्येय यही है कि किसी उपाय से परमात्मा को प्रसन्न करना। भगवान् को प्रसन्न करने के लिए प्रह्लाद जी कहते हैं—

नह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः।
आत्मत्वात्सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः॥ (भा० ७।६।१९)

[हे असुर-पुत्रो ! अच्युत भगवान् को प्रसन्न करने में

बहुत आयास नहीं है, क्योंकि वह सब प्राणियों के आत्मा हैं और सब जगह व्याप्त हैं।]

भगवान् को प्रसन्न करने के लिए उच्च वर्ण में जन्म, धन, रूप, तप, पाण्डित्य, इन्द्रियों की निपुणता, शारीरिक बल, ओज, अष्टाङ्गयोग आदि उपयुक्त सामग्री नहीं है। उल्लिखित गुणों से विभूषित ब्राह्मण भी यदि भगवान् के चरणारविन्द से विमुख है, तो उससे यह चाण्डाल अधिक श्रेष्ठ है जिसका मन, वचन और कर्म भगवान् को समर्पित हैं। हरिभक्त चाण्डाल सारे कुल का उद्धार कर सकता है और उसके प्रभाव को बहुमानशाली ब्राह्मण प्राप्त नहीं कर सकता। उस प्रभु के प्रसन्न हो जाने पर कोई भी कामनाएँ बांकी नहीं रह जाती हैं। भागवत में कहा है—

तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये
किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः।
धर्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन
सारं जुषां चरणयोरुपगायतां नः॥
धर्मार्थकाम इह योऽभिहितस्त्रिवर्ग
ईक्षात्रयी नय दमौ विविधा च वार्ता।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः॥

[उन आदि पुरुष अनन्त के प्रसन्न होने पर कौन पदार्थ पाना बाकी रह जाता है? निरन्तर भगवान् के नामकीर्तन

एवं उनके चरणारविन्द के अमृत का पान करने वाले हम लोगों को गुणों के परिणाम वश स्वयंसिद्ध सब धर्मों से क्या प्रयोजन है ? वाञ्छित मोक्ष से भी हमें क्या करना है ?

त्रिवर्गनाम से ख्यात धर्म, अर्थ और काम तथा आत्मशास्त्र, कर्म-काण्डशास्त्र, अर्थशास्त्र, दण्डनीति और भी अनेक शास्त्र यदि अन्तर्यामी भगवान् को स्वात्मा के अर्पण के साधक हों तो वे सत्य है, अन्यथा वे सब असत् हैं।] (भा० ७।६।२५।२६)

करुणावरुणालय भगवान् अनवगाह्य महामहिमशाली होने पर भी प्रेमरज्जु से गृहीत होकर अपने भक्तों का अभिलाष पूर्ण करने के लिए अपना निर्विशेष स्वरूप प्रकट करते हैं। इतना ही नहीं, वरन् अनवगाह्य परम विशुद्ध अन्तरङ्ग शक्ति से भक्तों के मन के अनुकूल कोटिकन्दर्पदर्प का दमन करने वाली दिव्य मङ्गलमय मूर्ति से शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि रूपों में आविर्भूत होकर भक्तों को अनन्त अनिर्वाच्य माधुर्य्य का आस्वादन कराते हुए परमपावन लीलाएँ रचते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे अनेक घड़ों के जल में प्रतिबिम्बित गगनस्थित सूर्य उपाधि दशा में प्रतिबिम्बों की अपेक्षा से बिम्ब पद से व्यवहृत होता है, और समय में बिम्बत्व तथा प्रतिबिम्बत्व दोनों उपाधियों से रहित होकर केवल सूर्य कहलाता है। स्वरूपतः बिम्ब पदवाच्य दशा तथा तद्रहित दशा में कोई भेद नहीं। इसी प्रकार नियम्य नियामकरूप अनन्तकोटि प्रपञ्च की अपेक्षा शुद्ध चैतन्य तत्त्व में अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के नायकत्व का व्यवहार होता है। उसकी

अनपेक्षा में अखण्ड आनन्द ब्रह्मरूपता का व्यवहार होता है। दोनों अवस्थाओं में भेद कुछ भी नहीं है। गगनस्थ सूर्य-स्थानीय वही भगवत्तत्त्व शिव, स्कन्द आदि पुराणों में शिवरूप से, विष्णु, पद्म आदि पुराणों में विष्णुरूप से, रामायण में रामरूप से, भागवतादि में कृष्णरूप से विद्यमान है।

अतएव—

"वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथान्ते च हरिः सर्वत्र कीर्त्यते॥" कहा है।

ऐसे सगुण या निर्गुण भगवान् की भक्ति में यथाशक्ति सभी का अधिकार है। शास्त्रों में भक्ति की जहां तहां बड़ी महिमा गाई गई है। शास्त्रों ने इसे अति दुर्लभ कहा है। जिसकी प्राप्ति के लिए योगीन्द्रवन्द्य मुनीन्द्र शुक सनकादि ने प्रतिदिन प्रार्थना की—

"तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वाऽन्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥"
(१०।१४।३०)

[ब्रह्माजी कहते हैं—हे भगवन्! यही मेरा बड़भाग है कि इस जन्म में अथवा इससे दूसरे जन्म में या पशुपक्षियों में जन्म लेकर आपके भक्तवरों में कोई होकर आपके चरणकमलों की तन-मन से सेवा करूँ।]

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ता-
च्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः
पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः॥"
(३।१५।४६)

[अपने पापों से नरकों में भले ही हमारा जन्म हो, किन्तु हमारा चित्त भ्रमर जैसे कमल में रमता है वैसे ही आपके चरणकमलों में ही रमे और हमारी वाणी जैसे तुलसी गुणों की अपेक्षा न कर के आपके चरण सम्बन्ध से ही शोभा पाती है, वैसे आपके चरणों से शोभा पावे, हमारे कान आपकी गुणगाथा से पूर्ण हों, यही हमारे लिए बहुत है।]

श्रीभरतजी—

"धर्म न अर्थ न काम रुचि गति न चहौं निर्वान।
जन्म जन्म रति राम पद यह वरदान न आन॥"

निर्वाण तक की भी उपेक्षा करते हैं।

"न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ! ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः।"

[हे भगवन् ! आपके चरणकमलरूपी हंसों की संगति के लिए जिन्होंने अपने घर परिवार को छोड़ दिया है ऐसे विरले आपके भक्तवर मोक्ष की भी अभिलाषा नहीं रखते।]

अहा ! देखो न यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान समाधि—अष्टाङ्गयोग, वेदान्त आदि से परिष्कृत

योगीन्द्रों के मानसपङ्कज पर एक क्षण के लिए भी जिसकी स्फूर्ति कठिन है। वह अदृश्य मन-वचन के अगोचर विशुद्धानन्द रूप सुधा-सौन्दर्यनिधान नन्दनन्दन मां यशोदा को छड़ी लेकर आती हुई देख कर प्राकृत बालक के समान भागने लगते हैं—

तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वर-
स्ततोऽवरुह्यापससारभीतवत् ।
गोप्यन्वधावन्न यमाप योगिनां
क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः ॥
(भा० १० । ९ । ९)

जब सुरेन्द्राभिलषितसौभाग्यशालिनी गोपी (यशोदा) दौड़कर छविधाम श्याम के दोनों करकमलों को अपने एक हाथ से पकड़ कर दूसरे हाथ से छड़ी दिखाती हुई बांधने के लिए रस्सी लेने लगी, तब भगवान् नटनागर ने भयभीत होकर करोड़ों चन्द्रों की प्रभा का तिरस्कार करने वाले, अलिकुल-संकुल परागपरिप्लुत सौन्दर्यसुधासरोवर में उत्पन्न हुए सरोज के समान स्निग्धश्यामलकुञ्चित अलकावली से परिवृत कोटि-कोटि कन्दर्पसौन्दर्यदर्पमोचन अपने वदनारविन्द को नीचे कर लिया। नयनारविन्द से कज्जलमिश्रित होकर सुन्दर कपोलों पर गिरते हुए अश्रुकण अद्भुत मोतियों की शोभा हर रहे हैं। अहा! तभी तो माता कुन्ती कहती है—

"गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाऽश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम् ।

वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति ॥"
(भा०—१ । ८ । ३१)

[हे भगवन् ! आप अवतार धारण कर लोकरीति के अनुसार जो व्यवहार करते हैं, वह बड़ा आश्चर्यमय है। देखिये, जब आपने गोकुल में दही के बर्तन फोड़ कर अपनी माता यशोदा का अपराध किया और यशोदा ने आपको बांधने के लिए रस्सी उठाई। उस समय आपने जो अपनी दशा उसे दिखाई, वह मेरे चित्त को मोह लेती है, क्योंकि काल भी जिससे डरता है वह आप माता की ताड़ना का भय मान कर नीचे को मुँह कर के खड़े रहे और आंखों से आंसुओं की धार बहने के कारण आपके नेत्र कज्जलयुत जल से भर कर भयकातर होगये। अहो ! आपकी लीला बड़ी विचित्र है।]

अहा ! हे माँ यशोदे ! तूने कौन से पुण्यपुञ्जों का उपार्जन किया था, जिनसे तूने देवेन्द्र को भी दुर्लभ ब्रह्मादिवन्द्य निर्गुण निर्विकार परमतत्त्व को दारुयन्त्र-सा बना लिया।

"नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात्॥"
(भा०—१० । ९ । २०)

[मुक्ति देने वाले आपसे जिस प्रसाद को गोपी ने पाया, उस प्रसाद को न तो ब्रह्मा पा सके, न शिवजी पा सके और न आपके शरीर में वास करने वाली लक्ष्मी जी ही पा सकीं।]

क्या यह भक्ति का ही प्रभाव नहीं है ? भक्ति की महिमा कहां तक कहें ।

" नाऽयं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः ।
ज्ञानिनां चाऽऽत्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ।।" (भा० १०।६।२१)

[ये गोपी (यशोदा) के लड़के ज्ञानी आत्मभूत प्राणियों के लिए भी वैसे सुलभ नहीं हैं, जैसे कि भक्तिमान् लोगों को सुख से मिलते हैं ।]

भक्ति के ही प्रभाव से गृध्रराज जटायु को लोकाभिराम सुखधाम राम ने पिता का स्थान दिया । भक्ति सुरसरी में विभोर होकर श्रीराम जी बह चले। गृध्रराज की करुण पुकार से आप विह्वल हो उठे। सीताजी की विरहाग्नि की विषम ज्वालाओं को बिल्कुल भूल गये। अपना तन मन नहीं सम्हाल सके। धनुष कहीं गिरने लगा, तूणीर कहीं और पीत पट कहीं । बड़ी उत्सुकता से दौड़ कर भगवान् ने गृध्रराज को अङ्क में बिठा लिया और उसकी धूलि पोंछने लगे।

" जटायु की धूरि जटान सों झारी ।"

अपने कोमल करारविन्द को उसके मस्तक तथा पङ्खों पर फेरते हुए नेत्रों से आंसुओं की झड़ी लगा दी और बोले—

" मोरे जान तात कछु दिन जीजै ।"

महर्षि वाल्मीकि जी कहते हैं—श्रीरघुनाथजी ने गृध्रराज

की अन्त्येष्टि क्रिया पिता के समान की। इस गाथा में उलझने से मुख्य विषय रह जायगा। इससे प्रकृत में यह निष्कर्ष निकला कि भक्ति महारानी की महिमा अपार है, यह भगवान को भक्त का ऋणी बना देती है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि देवों एवं शुक सनक आदि योगियों द्वारा भी अभिलषित भक्तियोग में ब्राह्मण आदि त्रैवर्णिक, स्त्री, शूद्र तथा अन्त्यज किं बहुना खस, यवन, किरात, पुलिन्द, चाण्डाल, यातुधान, खग, मृग, वनचर, गृध्रादि सभी का पूर्ण अधिकार है। इसी लिए गृध्रराज को भी योगीन्द्राभिलषित गति प्राप्त हुई।

"सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।"

[मुझ में भक्ति करने से मेरा भक्त सब अनायास पा जाता है।]

पाई न केहि गति पतितपावन राम भजि सुन शठ मना।

परन्तु ऐसी परम दुर्लभ भक्ति, जिससे भगवान् भी वश में हो जाते हैं, अपने अपने अधिकार के अनुसार धर्माचरण करने से ही प्राप्त हो सकती है। इसी लिए कहा है—

"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।"
"स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्त्तनम्॥"
भक्ति के साधन कहो बखानी।
सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥

प्रथमहिं विप्रचरण अति प्रीति ।
निज निज धर्म निरत अति प्रीति ।।
दृढ विश्वास अचल निज धर्मा । इत्यादि ।

तात्पर्य यह है कि जैसे अनुपान सेवन बिना एवं कुपथ्य के वर्जन बिना चन्द्रोदय आदि औषधियां कुछ भी लाभ नहीं पहुंचा सकतीं, हानि भले ही पहुचावें, इसी प्रकार अपने धर्म का आचरण रूप अनुपान तथा भयावह परधर्म आदि कुपथ्य के परित्याग के बिना सम्पादित हुई भी साधन भक्ति सम्पन्न नहीं होती, बल्कि तिरोभूत ही होती है । अतः भगवान् की आज्ञा के अनुसार स्वधर्म का अनुष्ठान करते हुए परधर्म तथा विरुद्ध धर्म से बचते हुए,

"दैवाल्लब्धेन सन्तोष आत्मविच्चरणार्चनम् ।"

किसी सद्ब्राह्मण का सेवापूर्वक सङ्ग करे । पश्चात् भक्ति के साधन तथा स्वरूप को महिमा को इतिहास, पुराण आदि से जानकर उसमें प्रवृत्त हो । साधारणतः भक्ति के साधन हैं—भगवान् के नाम, रूप, लीला आदि का जप, ध्यान और अनुसन्धान ।

भगवन्नाम का अनुपम महात्म्य है—

"हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ।।"

[अर्थात् कलियुग में केवल भगवान् ही मेरा (लोगों को) जीवन है, अन्यथा गति नहीं है, नहीं है, नहीं है ।]

"जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ॥
कहौं कहां लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुण गाई॥
यन्नामधेयश्रवणानुकीर्त्तनात् यत्प्रह्वणात् यत्स्मरणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नु वीक्षणात्॥

[जिसके नाम श्रवण से, कीर्त्तन से, जिसको प्रणाम करने से एवं जिसके स्मरण से चाण्डाल भी शीघ्र (उसे अनेक जन्म ग्रहण करने नहीं पड़ते, दूसरे ही जन्म में) यज्ञ का अधिकारी होता है, तो फिर हे भगवन्! उस आपके दर्शन से तो क्या २ फल न होंगे।]

स्वरूपध्यान की महिमा—

"अतिपातकयुक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम्।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः॥

[अति पातक युक्त भी पुरुष एक क्षण भी यदि भगवान् श्रीहरि का ध्यान करे तो वह पुनः तपस्वी एवं पङ्क्तिपावनों को भी पवित्र करने वाला हो जाता है।]

"तस्याऽरविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दरेणुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥"

(भा० ३।१५।४३)

[उन कमलनयन भगवान् के चरण कमलों के केसर से मिले हुए तुलसी के मकरन्द से युक्त वायु ने नासिका

द्वारा अन्तःकरण में प्रवेश करके ब्रह्मानन्द का सेवन करने वाले ऋषियों के भी चित्त में हर्ष और देह में रोमाञ्च कर दिये।]

लीला की महिमा—

"हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः ।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥" (भा० १।७।११)
"परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे ! आख्यानं यदधीतवान् ॥" (भा० २।१।६)

[श्रीहरि भगवान् के गुणों से अपनी ओर खींची गई बुद्धि वाले भगवद्भक्तों के प्रिय भगवान् शुकदेवजी इस श्रीभागवत नामक महापुराण को नित्य पढ़ते थे। हे राजर्षे ! मैं निरन्तर निर्गुण ब्रह्म में लीन रहता हूँ, तथापि पुण्यश्लोक नारायण की लीलाओं से चित्त आकर्षित होने के कारण इस श्रीभागवत-नामक महापुराण को मैंने ध्यानपूर्वक पढ़ा।]

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥
[भा० १०।३१।९]

[हे भगवन्! आपकी कथारूपी सुधा संसार-ताप से सन्तप्त प्राणियोंको जिलाने वाली है, ब्रह्मा आदि कविजन उसका गान करते हैं, वह सब पापों का नाश करने वाली है, श्रवणमात्र से मङ्गल देने वाली है, सबसे उत्कृष्ट और सर्वत्र व्याप्त है, उसको कथारूप से पृथिवी में जो लोग कहते हैं, वे बड़े धन्य हैं, सुकृती हैं।]

यहां क्रम यह है—स्वधर्मानुष्ठान सहित सद्गुरुओं से भगवच्चरित्र-श्रवण करने से भगवान् श्रवणरन्ध्र से हृदयकमल में प्रविष्ट होकर हृद्गत समस्त मल का, जैसे सूर्य रजनी का नाश कर देता है, उसी प्रकार नाशकर द्रवीभूत हृदय में परमानन्द स्वरूप स्थायी भाव रूप से प्रादुर्भूत होकर भक्त के हाथ बिक जाते हैं।

श्रीभागवत में कहा है—

"प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्॥" (भा० २।८।५)
"हृद्यन्तस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्।।"

[अपने भक्तों के हृदय-कमल में कानों द्वारा प्रविष्ट हुए भगवान् भक्तों के हृदय की मलिनता इस प्रकार नाश करते हैं जैसे शरद् ऋतु जल की मलिनता को दूर करती है। हृदय के मध्य में प्रविष्ट हुए भक्तों के प्यारे भगवान् अमङ्गलों को दूर कर देते हैं।]

"मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ।।" (भा० ३।२९।११)

[केवल मेरे गुणों के श्रवणमात्र से समुद्र में गङ्गा के प्रवाह के समान सब के घट-घट में वास करने वाले मुझ में अटूट (निरन्तर) चित्तवृत्ति होना निर्गुण भक्तियोग का लक्षण कहा गया है।]

"भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि ।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलम् ॥"

(भक्तिरसायन० १ । १०)

[भगवन् स्वयं परम आनन्द रूप हैं, द्रवीभाव के अनन्तर मन में प्रतिबिम्बित हुआ उनका आकार ही निरतिशय रस रूपता को प्राप्त होता है ।]

" विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥ "

(भा० ११ । २।५५)

[पराधीनावस्था में भी नामोच्चारण मात्र से पापों का नाश कर देने वाले हरि जिसके हृदय को स्वयं नहीं छोड़ते, और जिसकी प्रेम रूपी रज्जु से भगवान् का पादपद्म बांधा गया है ऐसा जो अधिकारी है, वह भगवद्भक्तों में प्रधान है ।]

इस प्रकार भगवान् के आकार में परिणत स्निग्ध-मानसवृत्तिलक्षण भक्ति महारानी के प्रादुर्भूत होते ही ज्ञान, अपवर्ग आदि अपने आप ही आकर प्रार्थना करने लगते है ।

इसलिए उक्त रीति के अनुसार राष्ट्र तथा धर्म के हितैषियों को चाहिये परस्पर-मैत्री बढ़ाते हुए पर-धर्म तथा विरुद्धधर्म की उपेक्षा कर स्वधर्म का आचरण करते हुए निर्गुण या सगुण स्वाभीष्ट देव की भक्ति कर नैतिक व धार्मिक परिस्थितियों को 'महाजनों येन गतः स पन्थाः' 'गतो मार्गोऽनुगम्यते' के अनुकूल कर अभ्युदय निःश्रेयस का सम्पादन करें ।

परिशिष्ट ।

अच्युतग्रन्थमाला से प्रकाशित पुस्तकों का सूचीपत्र

(क) विभाग

१-भगवन्नामकौमुदी—[भगवन्नाम की महिमा का प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ] मीमांसा के धुरन्धर विद्वान् श्रीलक्ष्मीधर की कृति, अनन्तदेव रचित 'प्रकाश' टीका सहित। सम्पादक—आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री।

पृ० सं० १५०, मू०—आ० १०

२-भक्तिरसायन—[भक्तिस्वरूप का परिचायक अत्युत्तम ग्रन्थ] यतिवर मधुसूदन सरस्वती रचित, प्रथम उल्लास में ग्रन्थकार रचित शेष दो उल्लासों में आचार्यवर श्रीदामोदरशास्त्री गोस्वामी रचित टीका से विभूषित। सं०—आचार्यवर गोस्वामी दामोदरशास्त्री पृ० सं० १७०

मू०—आ० १२

३-शुल्वसूत्र—[कात्यायन श्रौतसूत्र का परिशिष्ट ग्रंथ] वेदाचार्य्य पं० विद्याधर गौड़ की बनाई हुई सरलवृत्ति सहित। सं०—वेदाचार्य विद्याधर गौड़।

पृ० सं० ६०, मू०—आ० ४

४–कात्यायनश्रौतसूत्र—[इसमें दर्शपूर्णमास से लेकर अश्वमेध, पितृमेध पर्यन्त कितने ही यज्ञों की विधियाँ साङ्गोपाङ्ग वर्णित हैं] महर्षि कात्यायन प्रणीत, वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़ द्वारा रचित सुसरल वृत्ति से अलंकृत। सं०—वेदाचार्य विद्याधर गौड़। पृ० सं० लगभग १०००, मू०—रु० ६

५–प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि—(प्रथम भाग) [शाङ्करभाष्यानुसार वेदान्त का सुसरल पद्यमय ग्रन्थ] श्रीसदानन्द व्यास विरचित, ग्रन्थकार रचित सरल संस्कृत टीका सहित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री।
पृ० सं० ३४०, मू०–रु० २

६–भक्तिरसामृतसिन्धु—[भक्तिरस से परिपूर्ण यह ग्रन्थ सचमुच पीयूषसिन्धु है] श्रीरूप गोस्वामी प्रणीत, श्रीजीव गोस्वामी प्रणीत दुर्गमसङ्गमनी टीका सहित। सं०—आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री।
पृ० सं० ६२५, मू०—रु० ३

७–प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि—(द्वितीय भाग)
पृ० सं० ४५०, मू०—रु० २ आ० ४

८–तिथ्यर्क—[तिथियों के निर्णय आदि पर अपूर्व एवं प्रामाणिक ग्रन्थ] श्रीदिवाकरविरचित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री।
पृ० सं० ३५०, मू०—रु० १ आ० ८

९–परमार्थसार—(वेदान्त का अति प्राचीन ग्रन्थ) श्रीपतञ्जलि भगवान् की कृति, प्राचीन टीका तथा टिप्पणी से विभूषित। सं०–न्याय-व्याकरणाचार्य श्रीसूर्यनारायण शुक्ल।

पृ० सं० १००, मू०—आ० ६

१०–प्रेमपत्तन—[कृष्णभक्ति से सराबोर चैतन्य सम्प्रदायका अपूर्व ग्रन्थ] भक्तवर रसिकोत्तंस की कृति तथा अद्भुत-प्रणीत टीका से अलंकृत। सं०–साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री।

पृ० सं० २३०, मू०—रु० १

(ख) विभाग

१–खण्डनखण्डखाद्य—कवितार्किक शिरोमणि श्रीहर्ष रचित, पण्डितवर श्रीचण्डीप्रसादशुक्ल विरचित भाषानुवाद से विभूषित।

पृ० सं० ४३५ (बड़ा आकार), मू०—रु० २ आ० १२

२–काशी केदार-महात्म्य—[ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत] साहित्य-रञ्जन पं० श्रीविजयानन्द त्रिपाठी द्वारा विरचित भाषानुवाद सहित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री।

पृ० सं० २६+६०४, मू०—रु० २ आ० ८

३–सिद्धान्तबिन्दु—[वेदान्त का प्रमेय-बहुल अपूर्व ग्रन्थ] आचार्यप्रवर मधुसूदन सरस्वती विरचित, भाषानुवाद तथा टिप्पणी से विभूषित। सं०—साहित्याचार्य्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री।

पृ० सं० २८०, मू०—रु० १ आ० ४

४–प्रकरणपञ्चक—भगवान् शङ्कराचार्य के आत्मबोध, प्रौढानुभूति, तत्त्वोपदेश आदि ५ प्रकरण-ग्रन्थों का भाषानुवाद सहित संग्रह। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री।
पृ० सं० १३०, मू०—आ० ८

यन्त्रस्थ ग्रन्थ—

(क) विभाग में

१–षट्सन्दर्भ, विविध टीकाओं से विभूषित।

(ख) विभाग में

२–भक्तिरसायन, भाषाटीकासहित।

मिलने का पता—

(१) अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी।

(२) गीता प्रेस, गोरखपुर।

नोट—अच्युतग्रन्थमाला के स्थायी ग्राहकों को उक्त सभी पुस्तकें पौन मूल्य पर दी जायँगी।

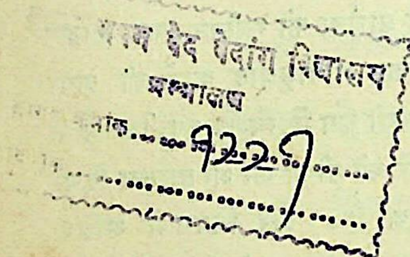
सूचना

अपूर्व अवसर ! शीघ्रता कीजिये !! अलभ्य लाभ !!!

विश्वविदितवैदुष्य वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित और दर्जनों ग्रंथों तथा अनेक पत्र-पत्रिकाओं के सुलेखक गङ्गातीर निवासी बाबा भोले बाबाजी ने हमारी प्रार्थना को स्वीकर कर शाङ्कर भाष्य तथा रत्नप्रभा का अविकल भाषानुवाद करने की कृपा की है। कहीं कहीं पर टिप्पणी रूप में विशेष स्पष्टीकरण के लिए भामती तथा आनन्दगिरि की टीका का भी हवाला दिया है। अनुवाद बड़ा सुन्दर हुआ है। इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, जो लोग उनके लेखों को पढ़ते हैं, वे उनकी परिमार्जित प्रतिपादन शैली एवं सरल भाषा से चिरपरिचित हैं। और वे वेदान्त के कैसे अनुभवी विद्वान् हैं तथा सुगूढ़ गुत्थियों को सुलझाने में कैसे कृतहस्त हैं यह भी उनसे छिपा नहीं है।

उक्त ग्रन्थ को कई खण्डों में सजधज के साथ शीघ्र निकालने का हमारा विचार है। जो सज्जन उसके प्रथम खण्ड के प्रकाशन होने से पहले ग्राहक सूची में अपना नाम लिखा लेंगे, उन्हें सभी खण्ड पौन मूल्य पर दिये जावेंगे। हिन्दी-भाषा-भाषियों से हमारा विशेष आग्रह है कि भारत की ही नहीं संसार भर की दार्शनिकता के उद्बोधक तथा श्रेष्ठ दार्शनिक भगवान् शङ्कर के अपूर्व विचारों को जानने का यह

स्वर्णसंयोग हाथ से न निकलने दें। प्राप्त सूचनाओं के अनुसार ही इसकी कम या अधिक प्रतियां छपेंगी। इस समय चूकने से पीछे पछताना पड़ेगा। इस प्रकार का संस्करण पुनः निकलना असम्भव है। सूचना निम्नलिखित पते से आनी चाहिये—



व्यवस्थापक,

अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, काशी।

